प्रथमामृत वृष्टि—भक्तिका सर्वोत्कर्ष

→ कामगायत्रीमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं, इसमें कौनसा अर्द्धाक्षर है, इसको प्रमाणित करनेके लिये श्रीराधाजीने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको स्वप्न देकर कहा कि **'वर्णागम-भास्वत्'** नामक ग्रन्थमें अर्द्धाक्षरका निरुपण है।

कादम्बिनी- जलसे भरे हुए मेघोंकी लम्बी पंक्ति या मेघमालाको **कादम्बिनी** कहते हैं।

माधुर्य कादम्बिनी- माधुर्य रूप अमृतकी वर्षा करनेवाली मेघमाला।

माधुर्यसे तात्पर्य

श्रील रूप गोस्वामीजीके अनुसार— "माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता।" अर्थात् सभी अवस्थाओंमें समस्त प्रकारकी चेष्टाओंकी निरुपम चारुता, मनोहरता एवं अपूर्व स्वरूपताका नाम माधुर्य है।

श्रील जीव गोस्वामीजीके अनुसार— असाधारण स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्यरूप विशेष तत्त्वका नाम भगवान् है। परमानन्द ही परब्रह्मका स्वरूप है, असमोर्ध्व अनन्त ईश्वरत्व ही उनका ऐश्वर्य है तथा सर्वाकर्षक स्वाभाविक रूप, गुण और लीला आदिका सौष्ठव ही माधुर्य है।

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीजीके अनुसार— भगवत्ताका सार माधुर्यपर ही प्रतिष्ठित है। (ऐश्वर्यपर नहीं)

परम औदार्य विग्रह श्रीकृष्ण चैतन्यदेवकी अहैतुकी कृपासे ही विश्व यह जान सका है कि भगवत्ताका सार माधुर्यपर ही प्रतिष्ठित है। प्राचीन कालके समस्त वैष्णवाचार्योंके मतानुसार ऐश्वर्य ही भगवत्ताका सार है। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके कृपापात्र गोस्वामियोंने सर्वशास्त्रशिरोमणि अमल प्रमाणस्वरूप श्रीमद्भागवतीय श्लोकोंके आधारपर स्वयं-भगवत्ताका आधार माधुर्यको ही निरूपित किया है।

माधुर्यके आधारपर नराकृति परब्रह्म व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही माधुर्यके साक्षात् मूर्तिमान विग्रह हैं। यद्यपि सभी भगवत्-स्वरूप तत्त्वतः अभिन्न हैं, फिर भी व्रजेन्द्रेनन्दन श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसी भी अन्य भगवत्-स्वरूपमें सभी रसोंका विकास पराकाष्ठा रूपमें नहीं देखा जाता। ये ही सभी रसोंके विषय स्वरूप रसिकशेखर हैं। अतएव ये श्रीकृष्ण ही अखिलरसामृतमूर्ति हैं। "रसो वै सः"।

श्रील रूप गोस्वामीजीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीकृष्णकी चार असाधारण माधुरियोंका वर्णन किया है, जो अन्यत्र किसी भी भगवत्-स्वरूपमें उपलब्ध नहीं हैं। ये चार माधुरियाँ हैं— 1) लीलामाधुर्य 2) प्रेममाधुर्य 3) वेणुमाधुर्य 4) रूपमाधुर्य।

ये चारों माधुरियाँ व्रजविहारी श्रीकृष्णमें ही परिपूर्ण रूपमें परिलक्षित होती हैं। माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थ उक्त कृष्ण—माधुर्यकी वर्षा करने वाली मेघमालाकी भाँति है। इसलिये ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थका नामकरण किया है—**माधुर्य-कादम्बिनी**।

माधुर्य तत्त्व अत्यन्त दुर्लभ एवं रहस्यपूर्ण है। इन माधुरियोंका आस्वादन करनेवाले भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी अहैतुकी कृपाके बिना किसी भी दूसरे उपायसे उक्त माधुरियोंका आस्वादन नहीं किया जा सकता है।

ग्रन्थकारने श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी कृपाको **'निरंकुश महामाधुर्य-कादम्बिनी'** कहा है। कारण—जैसे वर्षा ऋतुमें आकाश-व्यापी मेघमाला ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र, सुदेश-कुदेश आदि किसी भी प्रकारके भेद-भावके बिना अपने विपुल वारि वर्षणसे समस्त जगतको शीतलता प्रदान करती है, वैसे ही महाप्रभुकी निरंकुश कृपाने विधि-निषेध, पात्र-अपात्रका विचार किये बिना समस्त जीवोंको वह देव-दुर्लभ प्रेम प्रदानकर कृतार्थ कर दिया,

जो उनसे पहले कभी नहीं दिया गया था।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपने प्रकटकालमें बिना साधनके ही कृष्णप्रेमका दानकर जगतको धन्य कर दिया, किन्तु उनके अप्रकट कालमें लोगोंको साधन भजनके द्वारा ही कृष्ण प्रेम प्राप्त होता है। फिर भी श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा–कादम्बिनीका प्रभाव ऐसा है कि वह साधकोंकी साधन भक्तिको परिपुष्टकर शीघ्र ही प्रेमभक्तिको उदित करा देती है।

<u>महाप्रभुकी कृपा–कादम्बिनीका वैशिष्ट्य—</u>

"हृद्वप्रे नवभक्तिशस्यवितते: सञ्जीवनी"।

मेघमाला तो जलरूपी अमृतको बरसाकर भूमिमें पड़े हुए बीजोंको अंकुरित करती है। किन्तु महाप्रभुकी कृपा रूपी मेघमाला भक्ति संस्कार रूप बीज या मूल रहित ऊसर हृदय (काम, क्रोध, लोभादि युक्त) क्षेत्रमें भी भक्ति बीज उत्पन्नकर उसे अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पितकर प्रेम फल उत्पन्न कर देती है।

हृद्–वप्रे— हृदय क्षेत्र

भक्तिका आविर्भाव हृदय या चित्तमें होता है, मन अथवा बुद्धिमें नहीं। हृदयके जड़ होनेपर भी भगवत् इच्छासे इसमें चिन्मयी भक्तिके आविर्भूत होनेकी योग्यता रहती है।

नवभक्ति— नवोदित कोमल भक्ति अथवा नवधाभक्ति

भजनके बहुतसे अङ्ग होनेपर भी नवधा भक्ति ही कृष्णप्रेमको उदय करानेमें तथा कृष्ण सेवा प्रदान करनेका श्रेष्ठ साधन है। साधक जब नवधाभक्तिका पालन करता है, तब महाप्रभुकी कृपा रूपी माधुर्य कादम्बिनी इस नवधाभक्ति रूपी शस्यमें जीवनी शक्तिका सञ्चारकर उसे प्रेमफल प्रदान करनेके योग्य बनाती है।

"परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्"

श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं घोषणा की है—नवधाभक्तिमें भी श्रीभगवान्का नाम संकीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ है। नाम संकीर्त्तनसे ही नवधा भक्ति पूर्ण होती है। अपराधादि अनर्थोंसे रहित श्रीहरिनाम संकीर्त्तन शीघ्र ही प्रेमरूप महासम्पत्तिको अनायास ही प्रदान करता है, क्योंकि नाम और नामी स्वरूपतः अभिन्न हैं।

प्रश्न— जब तक साधकके हृदयमें नाना प्रकारकी स्वसुख भोगकी वासनाओंका झुलसा देनेवाला ताप विद्यमान है, तब तक वहाँ अत्यन्त सुकोमल भक्तिवृत्ति कैसे उदित हो सकती है?

उत्तर— जिस प्रकार वर्षा होनेके पूर्व ही सुशीतल वायु प्रवाहित होने लगती है और उसीसे ग्रीष्म ऋतुका तीव्र ताप अनायास ही दूर हो जाता है, प्राणियोंके भीतरी और बाहरी सभी अङ्ग सुशीतल हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीचैतन्य–कृपा–कादम्बिनी बरसनेसे पूर्व ही अपने प्रारम्भिक प्रभावसे साधकोंके हृदयकी कामना–वासनासे उत्पन्न त्रिताप ज्वालाको शान्त कर देती है। जड़ीय कामना–वासनाकी तो बात ही क्या, मुक्ति कामनाकी गन्ध तकको भी साधकके हृदयसे दूरकर वहाँ श्रीकृष्ण–प्रीतिमूलक सेवाकी वासनाको पूर्णरूपसे भर देती है। इस कृपा–कादम्बिनीके प्रभावसे जगाई–माधाई जैसे पापियोंने भी ब्रह्मा, नारद, शिवके लिये वाञ्छित दुर्लभ कृष्ण–प्रेमको प्राप्त कर लिया।

जैसे वर्षाकालमें मेघमाला वृष्टिके द्वारा नदियोंको भर देती है, उनमें बड़ी–बड़ी तरङ्गें उठने लगती हैं तथा वे अपने तटोंको भी डुबोते हुए प्रबल वेगसे महासागरसे मिलनेके लिये अग्रसर होती हैं, उसी प्रकार महाप्रभुकी कृपा–रूपी–कादम्बिनीकी वर्षासे समस्त विश्वमें श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्तनके माध्यमसे प्रेमकी बाढ़ आ गई और उसमें सात्विक एवं व्यभिचारी भावोंकी प्रबल तरङ्गें उठने लगीं। समस्त विश्वके लोग (पात्र–अपात्र, स्त्री–पुरुष, सज्जन–दुर्जन, मायावादी, कर्मी, कुतार्किक, निन्दक, हिंसक जीव–जन्तु आदि सभी) इस प्रेमकी प्रबल बाढ़में डूबकर प्रबल वेगसे अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्ण प्रेमकी ओर धावित होने लगे। इसके प्रभावसे आज मद्यप–मांसाहारी, नास्तिक, भौतिकवादी देशोंके हजारों स्त्री–पुरुष हाथमें माला और ललाटपर तिलक धारणकर 'हरे कृष्ण' महामन्त्रका कीर्त्तन कर रहे हैं।

प्रश्न– महाप्रभुकी माधुर्य कादम्बिनीके 3 प्रभाव बतायें?
उत्तर– 1. साधकोके हृदय क्षेत्रमे नवधाभक्ति रूप नवीन कोमल शस्यसमूहको जीवनशक्ति प्रदान करने वाली है।
2. अपने उदयकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही स्वसुखभोगकी कामना वासना रूपी ग्रीष्म ऋतुके तीव्र तापको दूर करने वाली है।
3. विश्वके समस्त नदीरूप भक्त समूहकी उल्लाससे भर देने वाली है।

प्रश्न— भगवान्को भक्त पहचान लेते हैं, परन्तु अभक्त क्यों नहीं पहचान पाते?
उत्तर— भगवान् अपनी स्वेच्छासे प्रेमी भक्तोंके हृदयमें, उनकी इन्द्रियों (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा)में अवतीर्ण होते हैं। कोई अपनी इच्छासे उनको अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें नहीं ला सकता। इसलिये भक्त उन्हें पहचान लेते हैं, परन्तु अभक्त उन्हें साधारण मनुष्यके रूपमें दर्शन करते हैं।

<u>प्रमाण</u>— जिसकी सहायतासे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है, उस वस्तुके सम्बन्धमें उसे 'प्रमाण' कहा जाता है। गौड़ीय वैष्णवोंने 10 प्रमाणोंको स्वीकार किया है।

1) प्रत्यक्ष— पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे जो ज्ञान या अनुभव होता है, उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण निर्भर योग्य नहीं है, क्योंकि बद्धजीवमें चार दोष पाये जाते हैं—

(क) **भ्रम**– एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी बुद्धि होनेको 'भ्रम' कहते हैं। उदाहरण—पड़ी हुई रस्सीको सर्प समझ लेना।

(ख) **प्रमाद**– 'प्रमाद' का अर्थ है 'अन्यमनस्कता' अर्थात् मनका कहीं अन्यत्र अभिनिवेश होना। जीवकी प्राकृत बुद्धिकी एक सीमा है। ऐसी बुद्धिके द्वारा असीम परतत्त्व भगवान्के सम्बन्धमें जो सिद्धान्त बताया जाता है, उसमें भूल रहना स्वाभाविक है। इसे 'प्रमाद' कहते हैं।

(ग) **विप्रलिप्सा**– 'वञ्चना करना'। अपने स्वार्थके लिये मुख्य बात न बताकर गौण बातें बताना। उदाहरण–भागवत वक्ता श्रीकृष्ण भक्तिकी बातें न बताकर मनोरंजक कहानियाँ एवं गौण कथायें सुनाते हैं।

(घ) **करणापाटव**– इन्द्रियोंकी अपटुता (अपूर्णता) को 'करणापाटव' कहते हैं। 'करण'–इन्द्रियाँ, 'अपाटव'–अपटुता। हमारी इन्द्रियोंकी विषय ग्रहण करनेकी एक सीमा है। अतः इन्द्रियाँ पूर्ण नहीं हैं। उदाहरण– आँखोंसे एक निश्चित दूरी तक ही हम देख सकते हैं। उसके बाद हमें दिखाई देना बन्द हो जाता है। कान– कानोंसे हम एक सीमा तक ही सुन सकते हैं। दूर बैठा व्यक्ति क्या कह रहा है, हम नहीं सुन सकते। नाक– सर्दी–जुकाम होने पर हमें गन्धका पता नहीं चलता। जिह्वा– बहुत अधिक ठंडा अथवा गर्म होने पर अथवा रोग हो जाने पर हमें स्वादका पता नहीं चलता। त्वचा– पैर या हाथ सुन्न हो जाने पर हमें स्पर्शका पता नहीं चलता।

इन 4 दोषोंके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाणको हम स्वीकार नहीं कर सकते।

2) अनुमान– किसी वस्तुको देखकर उसके कारणका अनुमान लगाना। उदाहरण– धुआँ देखने पर उसके कारणका अनुमान लगाना कि वहाँ आग लगी है। परन्तु आगमें पानी डालने पर आगके बुझनेके बाद भी धुँआ उठता है।

3) आर्ष– अभ्रान्त ऋषियोंके वाक्योंको 'आर्ष प्रमाण' कहते हैं। किन्तु अनेक ऋषियोंके अपने भिन्न–भिन्न मत हैं। अतः उनके वचन भी प्रमाणिक नहीं हैं।

तर्कोऽप्रतिपठः श्रुतयो विभिन्न, नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥(महाभारत – वनपर्व–3–3–117)

4) उपमान– एक वस्तुको देखकर उसके समान किसी अन्य वस्तुका ज्ञान होना 'उपमान या तुलना' कहलाता है। उदाहरण– कोई कहे कि फिटकरी नमकके समान होती है। यह कहनेसे फिटकरीके गुणोंका पूर्ण ज्ञान

नहीं होता। फिटकरी रक्तस्रावको रोकती है, परन्तु नमक नहीं।

5) अर्थापत्ति– किसी वस्तुका कोई कारण दिखाई न देने पर उसकी स्वीकृतिके अनुकूल जिस कारणकी कल्पनाकी जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। उदाहरण– कोइ व्यक्ति भोजन न करने पर भी मोटा हो रहा है तो अनुमान लगाना कि यह रातमें खाता होगा। परन्तु यह भी सम्भव है कि वह किसी औषधिसे, देवताकी कृपासे अथवा रोगके कारण मोटा हो रहा है।

6) अभाव (अनुपलब्धि)– ज्ञानेन्द्रियोंसे दूर रहने पर हमें किसी वस्तुकी उपलब्धि न होनेसे उसका अभाव मान लेना। उदाहरण– दीवारके दूसरी ओरकी वस्तु हमें दिखाई नहीं देती तो हम मान लें कि दीवारके पीछे कुछ नहीं है।

7) सम्भव– बुद्धिके अनुसार जहाँ अनुमान अथवा सम्भावना व्यक्त ही जाती है। उदाहरण– भागवत सप्ताहमें लगभग 100 लोग आये।

8) ऐतिह्य– इतिहासमें जो उल्लेख मिलता है अथवा समाजमें एक दूसरेसे सुनकर जो प्रचलन चल रहा है। इतिहास भी बद्ध जीवों द्वारा लिखे गये हैं। अतः यह भी निर्भर योग्य प्रमाण नहीं है।

9) चेष्टा– जिस प्रमाणसे द्रव्य, संख्या आदिका बोध होता है। उदाहरण– पिताने पुत्रसे पूछा कितने रुपये चाहिये? पुत्रने अँगुलीसे इशारा करते हुये 5 अँगुली दिखाई। यहाँ 5 अंगुलीका तात्पर्य 5 सौ, 5 हज़ार, अथवा 5 लाख है, यह स्पष्ट नहीं है।

10) शब्द– अपौरुषेय शास्त्र वचन ही 'शब्द प्रमाण' हैं। इनको 'आप्रवचन' भी कहते हैं। किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गई रचनाको पौरुषेय शास्त्र कहते हैं। परन्तु भगवानके द्वारा प्रकट शास्त्रोंको 'अपौरुषेय' कहते हैं। इसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदिकी सम्भावना नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान हैं। अतः इन शास्त्रोंमें किसी त्रुटि अथवा भ्रमकी सम्भावना नहीं है। ये भगवान्के निःश्वाससे प्रकट हैं। पुरुष– 'पुरे शयति इति पुरुषः'। जो नौ द्वार वाले पुर (शरीर) में वास करता है। यहाँ 'पुरुष' शब्द बद्धजीवके लिये प्रयोग हुआ है। अतः भगवान 'अपौरुषेय' हैं।

स्कन्दपुराणके अनुसार 4 वेद, महाभारत, मूल रामायण, पञ्चरात्र – ये सब सत्–शास्त्र हैं। जो ग्रन्थ इनके अनुकूल हैं, वे भी सत्–शास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र असत् हैं। 'वेद' स्वतः प्रमाण हैं। अन्य प्रमाणोंको श्रुतिकी सहायतासे ही प्रामाणिक कर सकते हैं। परन्तु स्वतः प्रमाण श्रुतिके लिये अन्य 9 प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—भगवान्के अवतार बुद्धदेव हैं। क्या उनके वचन भी प्रमाण हो सकते हैं?
उत्तर—श्रील जीव गोस्वामीके अनुसार—जिस शास्त्रमें बुद्धदेवको ईश्वर कहा है, उसी शास्त्रमें यह भी लिखा है कि दैत्योंको मोहित करनेके लिये ही उन्होंने निरीश्वर शास्त्रोंको लिखा है। अतः उनके उपदेश प्रामाणिक रूपमें ग्रहण नहीं किये जा सकते।

भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द (सत्–चित्–आनन्द) स्वरूप हैं। सत् अंशसे सन्धिनी (सत्ता), चित् अंशसे संवित् (ज्ञान) तथा आनन्द अंशसे ह्लादिनी शक्ति प्रकाशित होती हैं। जहाँपर स्वरूप शक्तिका प्रकाश होता है, वहाँ ये तीनों शक्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं। ये तीनों स्वरूप शक्तिकी वृत्ति हैं।

भगवान् स्वप्रकाश हैं, उनकी चित् शक्ति भी स्वप्रकाश है। अतः चित् शक्तिकी वृत्ति भी स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश वस्तु स्वयंको तथा दूसरोंको भी प्रकाशित करती हैं। उदाहरण—सूर्य स्वप्रकाश वस्तु हैं। वह उदित होकर अपनेको तथा जगतको प्रकाशित करता है।

विशुद्ध सत्त्व—चित् शक्तिकी स्वप्रकाश लक्षण युक्त जिस वृत्तिके द्वारा भगवान् अपने स्वरूप, धाम,

परिकर आदिको प्रकाशित करते हैं। उस वृत्तिको 'विशुद्ध सत्त्व' कहते हैं। विशुद्ध सत्त्वमें सन्धिनी, संवित् तथा ह्लादिनी तीनों एक साथ रहती हैं, परन्तु इनकी अभिव्यक्तिका परिमाण समान नहीं होता। कहीं तीनों समान रूपसे व्यक्त होती हैं, कहीं एककी प्रधानता रहती हैं।

भक्ति— भक्ति स्वरूपतः ह्लादिनी प्रधान स्वरूपशक्तिकी विशेष वृत्ति है, जो स्वप्रकाश एवं चित्त् वस्तु है। इसे गुह्य विद्या भी कहते हैं। गुह्य-विद्याकी दो वृत्ति हैं—एक भक्ति और दूसरी भक्तिकी प्रवर्त्तक। गुह्य विद्याके द्वारा ही प्रेमभक्ति प्रकाशित होती है।

प्रश्न— यदि भक्ति स्वप्रकाश एवं सच्चिदानन्दमयी है, तो साधकोंकी जड़ इन्द्रियोंमें वह कैसे आविर्भूत होती है?

उत्तर— जिस प्रकार एक सुईंमें चुम्बकत्व न होनेपर भी यदि उसको बार-बार चुम्बकके ऊपर रगड़ते हैं, तो सुईंमें भी चुम्बकत्व आ जाता है तथा जिस प्रकार ज्वलन्त आगमें तपकर एक लोहेका टुकड़ा अग्निकी भाँति लाल रङ्ग एवं दाहिका शक्तिको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमयी भक्ति भी अपनी शक्तिके द्वारा भक्तोंकी जड़ इन्द्रियोंको भी चिन्मय बना देती है। भक्त जब श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोका जड़ इन्द्रियों द्वारा पालन करता है, तो धीरे-धीरे भक्तिके प्रभावसे इन्द्रियोंका जड़त्व नष्ट होकर चिन्मयत्वमें परिवर्तित हो जाता है। इन्द्रियोंके चिन्मय होनेपर ही भगवान्के रूप, गुण, लीलाके दर्शन अथवा उनकी अनुभूति सम्भव हैं।

प्रश्न— जो भक्ति भगवान्को अपने आनन्दसे वशीभूत कर लेती है, उसका लक्षण क्या है? अथवा अनेक मतवादियोंके भक्तिके सम्बन्धमें क्या मत हैं?

उत्तर— सिद्धान्त वाक्य— भगवान् भक्तिके वशीभूत हैं।

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति
भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी।

भक्ति ही भक्तको भगवान्के निकट ले जाती है। भक्ति ही भक्तको भगवान्के दर्शन कराती है। भगवान् भक्तिके ही वशीभूत हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

सांख्यवादी— सांख्यवादी भक्तिको सात्विक मानते हैं। (प्राकृत सत्वमय) सात्विक भक्तिका अर्थ है यदि कोई इस उद्देश्यसे भक्ति करता है कि मेरे पाप नष्ट हो जायें, तो इसे सात्विक भक्ति कहते हैं।

भक्ति कभी भी प्राकृत सत्वमय मायिक आनन्दस्वरूप नहीं हो सकती, क्योंकि सत्वगुण मायाका गुण है। अतः यदि भक्ति सात्विक होती तो भगवान् भक्तिके वशीभूत होनेके कारण मायाके वशीभूत हो जायेंगे, परन्तु ऐसा कभी सम्भव नहीं है, क्योंकि भगवान् मायापति हैं। दूसरा कारण भगवान् आत्माराम, आप्तकाम हैं। अतः भगवान् कभी भी मायिक गुणोंमें आसक्त नहीं होते।

निर्विशेष ब्रह्मवादी— भक्ति भगवत् स्वरूपानन्द है।

यदि भक्तिको 'भगवत्-स्वरूपानन्द' मान लें तो यह आनन्द भगवान्के अपने भीतर ही है, जिसके कारण भगवान् 'आत्माराम' हैं। जब यह आनन्द भगवान्में ही है तो भगवान् भक्तोंके पीछे क्यों जाते हैं अर्थात् वे भक्तोंके वशीभूत क्यों हो जाते हैं? अतएव भक्ति 'भगवत्-स्वरूपानन्द' भी नहीं है।

जीव-स्वरूपानन्द— भक्ति 'जीव स्वरूपानन्द' है।

'जीव' श्रीभगवान्की तटस्था शक्तिका प्रकाश एवं भगवान्का अणु अंश है। अतः जीवके अन्दर आनन्द भी अणु मात्रामें होता है। यदि जीव स्वरूपानन्दको भक्ति मानें, तो इसमें दोष है, क्योंकि भगवान् एक बृहत् वस्तु हैं और वे कभी भी अणु आनन्दके वशीभूत नहीं हो सकते।

स्वरूप शक्त्यानन्द— भक्ति स्वरूप-शक्त्यानन्द है।

भक्ति ह्लादिनी प्रधान स्वरूप शक्तिकी वृत्ति है, जिसके द्वारा भगवान् स्वयं आनन्दका अनुभव करते

हैं तथा दूसरोंको भी आनन्द प्रदान करते हैं।

प्रश्न— यदि भक्ति भगवान्‌की स्वरूप शक्तिकी वृत्ति है, तो यह स्वरूप शक्ति सदैव भगवान्‌के अन्दर विराजमान है, फिर भगवान् भक्तोंके वशमें क्यों हो जाते हैं?
उत्तर— भक्ति स्वरूप शक्त्यानन्द है। परन्तु जब यह भगवान्‌के अपने अन्दर रहती है, तो भगवान् इसका आस्वादन नहीं कर पाते। जब इस स्वरूप शक्तिकी वृत्ति (भक्ति) को भगवान् भक्तके हृदयमें प्रवेश करा देते हैं, तब यह भक्तकी सेवा करनेकी उत्कण्ठाके साथ मिलकर चमत्कार उत्पन्न कर देती है। अब यह भगवान् तथा भक्त दोनोंको आनन्द प्रदान करती है तथा अत्यधिक आस्वादनीय बन जाती है।

उदाहरण—
(1) वंशी वादक जब वंशीमें हवा भरता है, तो वंशीमेंसे अद्‌भुत स्वर निकलते हैं, जिसका वह आस्वादन करता है, किन्तु वही हवा जब वंशीवादकके अपने अन्दर रहती है, तब वह भगवान्‌को वैसा आनन्द प्रदान नहीं कर सकती। वंशीमें प्रवेश करनेपर स्वरके रूपमें अति आनन्द प्रदान करती है।
(2) समुद्रके जिस पानीको सूर्य सोखता है, वही पानी जब बादल बनकर स्वाति नक्षत्रमें वर्षा करता है, तो समुद्रमें पड़ी सीपके मुँहमें जाकर मोती बन जाता है। यद्यपि इस पानीका आश्रय समुद्र ही है, परन्तु जब यह सूर्यकी किरणोंके द्वारा अवशोषित होकर स्वाति नक्षत्रमें बरसता है, तो सीपके मुखमें प्रवेशकर मोती बन जाता है। इसलिये समुद्रको रत्नाकर भी कहते हैं।
(3) अँगीठीमें जब आग जलाते हैं, तब वह आग तापनेवाले (विषय) को भी ताप देती है और अँगीठी (आश्रय) को भी गर्म कर देती है। इसी प्रकार भक्ति भी आगके समान है। जब यह भक्ति भक्त (आश्रय) के हृदयमें प्रवेश करती है, तो भक्त एवं भगवान् (विषय) दोनोंको ही आनन्द प्रदान करती है।

प्रश्न— साधकके हृदयमें भक्तिके उत्पन्न होनेका कारण क्या हैं? भक्ति कैसे उत्पन्न होती है?
उत्तर— सिद्धान्त वाक्य— भक्ति देवी स्वयं प्रकाशित हैं।

श्रीमद्‌भागवतके अनुसार—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ (श्रीमद्भा.11/20/8)

यहाँपर 'यदृच्छया' शब्दका अर्थ 'स्वेच्छा' है। भक्ति स्वयं अपनी इच्छासे उदित होती है, इसलिये भक्तिको अहैतुकी कहा गया है।

श्रीधरस्वामीपादने 'यदृच्छया' शब्दकी व्याख्यामें लिखा है—'यदृच्छया केनापि भाग्योदयेन'। अर्थात् 'यदृच्छया' का अर्थ 'किसी भाग्यके उदय' से है। यदि इस व्याख्याको मान लिया जाये, तो प्रश्न उठता है कि यह भाग्य किसके द्वारा उत्पन्न हुआ?

(1) शुभ कर्मसे उत्पन्न भाग्य— यदि शुभ कर्मोंसे उत्पन्न भाग्यसे भक्ति होती है, ऐसा मान लेते हैं, तो भक्ति शुभ कर्मके अधीन हो जाती है तथा इससे भक्तिकी स्वप्रकाशताकी हानि होती है, क्योंकि सभी श्रुति शास्त्रोंमें भक्तिको भगवान्‌के समान सच्चिदानन्दमय एवं स्वप्रकाश वस्तु बताया है।

(2) शुभ कर्मके अभावसे उत्पन्न भाग्य— यदि शुभ कर्मोंके अभावसे उत्पन्न भाग्यको भक्तिका कारण मानते हैं, तो उस भाग्यके उत्पन्न होनेका क्या कारण है? इस प्रकार वह भाग्य ही असिद्ध हो जाता है। अतएव जो स्वयं असिद्ध है, वह दूसरेका कारण कैसे हो सकता है? भाग्य कभी भी अपने आप नहीं बन सकता। अतः इस भाग्यके बननेका क्या कारण है?

(3) भगवान्‌की कृपासे उत्पन्न भाग्य— यदि भगवत्कृपाको भक्तिका कारण मानते हैं, तो उस कृपाका क्या कारण है? भगवान्‌ने कृपा क्यों की? उसका कारण क्या है? इस प्रकार उत्तरोत्तर कारण ढूँढ़नेसे कोई कारण निश्चित न होनेपर अनावस्थाका दोष आ जाता है।

यदि भगवान्ने किसी हेतुसे कृपाकी तो भक्ति उस कारणके अधीन हो गई। इससे भी भक्तिकी स्वप्रकाशताकी हानि होती है।

(4) भगवान्की अहैतुकी कृपासे उत्पन्न भाग्य— यदि भगवान्की अहैतुकी कृपा भक्तिका कारण है, तो वह अहैतुकी कृपा सबपर होनी चाहिये, क्योंकि भगवान् समदर्शी हैं। श्रीगीतामें स्वयं भगवान् कहते हैं—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः" अर्थात् मैं सबके लिये समान हूँ। न मेरा कोई द्वेषी है, न कोई प्रिय। परन्तु हम देखते हैं कि किसीको भक्ति लाभ हो रही है, किसीको नहीं। भगवान्ने किसीपर कृपा की, किसीपर नहीं। इस प्रकार भगवान्की अहैतुकी कृपाको भक्तिका कारण माननेपर उनमें विषमताका दोष आ जाता है। परन्तु भगवान्में कभी भी विषमताका दोष सम्भव नहीं है।

प्रश्न— भगवान् दुष्टोंको दण्ड देते हैं और अपने भक्तोंका पालन करते हैं। क्या इसे भगवान्में विषमताका होना नहीं कहा जायेगा? श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम।" अर्थात् जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनके निकट हूँ, तथा वे मेरे निकट हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—"अहं भक्त पराधीनो" अर्थात् मैं अपने भक्तोंके पराधीन हूँ। इस प्रकार भगवान्में अपने भक्तोंके प्रति विशेष कृपा देखी जा रही है। क्या यह विषमता नहीं है?
उत्तर- भगवान्के अनन्त गुणोंमें "भक्तवात्सलता'का गुण चक्रवर्ती सम्राट है। अन्य समस्त गुण इसके अधीन हैं। अतः अपने भक्तोंका पालन करना भगवान्का महत् भूषण स्वरूप है। यदि यह गुण भगवान्में न होता, तो भगवान् 'परमात्मा' बन जाते। दूसरी ओर असुरोंके संहारमें भी भगवान्की महत्कृपा ही प्रकाशित होती है, क्योंकि असुर भगवान् तथा उनके भक्तोंसे द्वेष भाव रखते हें, तथा पाप कर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें अनन्तकाल तक नरक भोग करना पड़ेगा तथा वे कभी भी भक्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। ऐसे असुरोंका भगवान् संहार करके उनको ज्ञानी और योगियोंके लिये भी दुर्लभ मुक्ति प्रदान कर देते हैं। इससे बढ़कर भगवान्की अहैतुकी कृपा क्या हो सकती है कि वे पापी एवं भगवत् विद्वेषीको सभी मुक्ति प्रदान कर देते हैं।

(5) भक्तोंकी कृपासे उत्पन्न भाग्यसे— भक्त तीन प्रकारके होते हैं—
(क) उत्तम भक्त
(ख) मध्यम भक्त और
(ग) कनिष्ठ भक्त

(क) उत्तम भक्तकी कृपासे यदि माने कि भक्ति होती है, तो उनमें विषमताका दोष आ जाता है, क्योंकि उत्तम भक्तका लक्षण है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मानः
भूतानि भगवन्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।

अर्थात् जो समस्त जीवोंके हृदयमें भगवान्के दर्शन करता है। फिर वह किसी पर कृपा करेगा, किसी पर नहीं करेगा, ऐसा सम्भव नहीं है।

(ख) कनिष्ठ भक्तकी कृपासे भी भक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि कनिष्ठ भक्तके अन्दर स्वयं ही भक्तिका अभी अभाव है। फिर जो वस्तु उसके पास नहीं है, वह उसे दूसरेको कैसे दे सकता है।

(ग) मध्यम भक्तके लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार बताये गये हैं—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः। (श्रीमद्भा.11/2/46)

जो भगवान्से प्रेम, भगवद्भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानीपर कृपा एवं भगवत्-विद्वेषी व्यक्तिकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है।

➡ इस प्रकार विषमता ही मध्यम भक्तका लक्षण है। ऐसे मध्यम भक्तकी कृपासे ही साधारण मनुष्य भक्ति प्राप्त करते हैं। भक्तकी कृपा भी भगवान्‌की कृपाकी भाँति अहैतुकी एवं निरुपाधिक है। मध्यम भक्तके अन्दर विषमताका लक्षण होता है। अतः वह किसीपर कृपा कर सकते हैं, किसीपर नहीं। इससे पक्षपातका दोष नहीं होता।

प्रश्न— मध्यम भक्तकी कृपा (एक व्यक्तिकी कृपा) से ही भक्ति होती है, तो भक्ति स्वप्रकाश कैसे हुई? फिर तो वह एक व्यक्तिकी कृपाके अधीन हो गई?
उत्तर— भक्तके हृदयमें सदैव भक्ति रहती है। उसी भक्तिके द्वारा ही भक्तका हृदय दूसरोंके कष्टोंको देखकर द्रवित हो जाता है। चित्त द्रवित होनेपर ही भक्त लोगोंके प्रति कृपा करता है और इस कृपाके द्वारा ही लोग भक्ति प्राप्त करते हैं। अतः मध्यम भक्तकी दूसरोंके प्रति जो कृपा देखी जाती है, उसका कारण उसके हृदयमें स्थित भक्ति ही है। इसलिये भक्ति ही भक्तिका हेतु है। इस प्रकार भक्तिकी स्वतन्त्रता या स्वप्रकाशताकी कोई हानि नहीं होती।

➡ यदि वह व्यक्ति ही कृपाका हेतु होता, तो वही व्यक्ति जब कनिष्ठ अधिकारमें था, तब वह कृपा क्यों नहीं कर सका। अर्थात् वह व्यक्ति जब मध्यम अधिकारमें आया, तब उसके हृदयमें भक्तिका आविर्भाव हुआ और इसी भक्तिके प्रभावसे अब वह दूसरोंपर भी कृपा करनेमें समर्थ हुआ।

प्रश्न— भक्त भगवान्‌के अधीन होते हैं। अतः भगवान्‌की इच्छाके बिना भक्त किसीपर स्वतन्त्र रूपसे कैसे कृपा कर सकते हैं। अतः भक्तोंकी कृपाका कारण भी ईश्वरकी प्रेरणा ही है?
उत्तर— भगवान् भक्तोंके वशीभूत हैं। उन्होंने स्वयं ही भक्तवश्यताके कारण भक्तोंके हृदयमें ऐसी कृपाशक्ति दे रखी है कि भक्तोंकी कृपा ईश्वरकी इच्छा या प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं रखती। भक्त स्वतन्त्र रूपसे किसीपर भी कृपा कर सकते हैं। भगवान्‌ने स्वेच्छासे अपने भक्तोंका ऐसा उत्कर्ष स्थापित किया है।

➡ दूसरोंके दुःखका अनुभव होनेपर ही कृपा या करुणा प्रकाशित होती है। भगवान् आनन्दस्वरूप हैं। वे सदैव अपने आनन्दमें निमग्न रहते हैं। अतः जीवोंका कोई भी दुःख भगवान्‌को स्पर्श नहीं कर सकता। अतः भगवान्‌में पूर्ण शक्ति रहनेपर भी बहिर्मुख जीवोंके प्रति उनकी करुणा असम्भव है। इसलिये बद्ध जीवोंके उद्धारके लिये भक्तोंकी कृपा ही एकमात्र उपाय है।
➡ कृपा करनेके लिये दो बाते आवश्यक हैं—(1) दूसरोंके कष्टकी अनुभूति (2) कष्ट दूर करनेका सामर्थ्य।

प्रश्न— साधु भी मायिक दुःखोंसे अतीत शुद्ध सत्त्वमय आनन्दमें निमग्न रहते हैं, फिर उन्हें बद्धजीवोंके दुःखका अनुभव कैसे होता है? फिर बिना दुःखके अनुभवके कृपा या करुणाका होना असम्भव है।
उत्तर— भक्त शुद्धसत्त्वमें स्थित होते हैं, परन्तु जिस प्रकार एक व्यक्ति नीन्दमें यदि कोई बुरा स्वप्न देखता है, तो जागनेपर भी वह उस स्पप्नावस्थाके दुःखका अनुभव करता है। उसी प्रकार भक्त भी अपने पूर्व जीवनके (जब वह कनिष्ठ अधिकारमें था अथवा भक्तिमें आनेसे पूर्व) संसार दुःखोंका स्मरण करता है, तो उसका चित्त द्रवित हो जाता है। तब वह बद्धजीवोंपर कृपा करता है।

➡ बद्धजीवोंको अपने प्रति उन्मुख करनेके लिये ही भगवान्‌ने अपनी कृपाको भक्तोंके हृदयमें रखकर महत्कृपाको पूर्ण स्वतन्त्र बना रखा है। अतः भगवान्‌की कृपा महत्कृपा (भक्तोंकी कृपा) की अनुगामिनी है, स्वतन्त्र नहीं।

प्रश्न— क्या भक्तोंकी किसी भी क्रियापर भगवान्‌का नियन्त्रण नहीं होता? श्रीगीतामें भगवान्‌ने कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया। (श्रीगीता 18/61)

भगवान समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान रहकर उनको विविध कर्मोंमें प्रवृत्तकर यन्त्रारुढ़की भाँति उनको परिचालित करते हैं।

प्रश्न— क्या भक्तोंके कार्योंपर भगवान्‌का कोई नियन्त्रण नहीं होता?
उत्तर— भगवान् बहिर्मुख जीवोंकी इन्द्रियोंमें प्रेरणा या शक्ति देकर उनको सक्रिय करते हैं। उसी प्रकार भक्तोंके सुख-दुःख सब कुछ भक्तिकी पुष्टिके लिये भगवान्‌की इच्छासे ही होते हैं। भगवान्‌की शक्ति भक्तकी इन्द्रियोंमें प्रकाशित होती है तथा उसके नियन्ता भगवान् ही हैं। इस विषयमें भक्तकी सम्पूर्ण स्वाधीनता नहीं है, परन्तु अन्य जीवोंके प्रति करुणा प्रकाशित करनेमें भगवान्‌ने अपनी कृपाशक्तिका सञ्चार भक्तोंके हृदयमें करके उनको सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है।

अतः भक्तोंके सुख-दुःख आदि क्रियाओंपर भगवान्‌का नियन्त्रण है, परन्तु बद्धजीवोंपर कृपा करनेमें भक्त पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न— श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है कि योग, सांख्य, ज्ञान, व्रत, तप आदिके द्वारा भी भक्ति प्राप्त नहीं होती, वहीं अन्य स्थानोंपर कहा गया है कि निष्काम कर्म अथवा भगवदर्पण कर्मके द्वारा भक्ति होती है। इसमें क्या सामञ्जस्य है?
उत्तर— जिस प्रकार भगवान् स्वेच्छापूर्वक इस जगतमें अवतरित होते हैं, परन्तु फिर भी स्थूल दृष्टिसे असुरोंके संहार एवं भूभार हरण आदिको भगवान्‌के अवतारका हेतु कहा है—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां"। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर विदित होता है कि जिनकी इच्छामात्रसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन एवं प्रलय होता है, उनके लिये भूभार हरण कौनसा बड़ा कार्य है। पद्मपुराणमें कहा है—

मुहूर्तेनापि संहर्तुं शक्तो यद्यपि दानवान्
मद्‌भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः।

अर्थात् मैं एक क्षणमें ही सारे दानवोंका संहार करनेमें समर्थ हूँ, तथापि भक्तोंके आनन्दवर्धनके लिये ही मैं अनेक प्रकारकी लीलायें करता हूँ।

इसी प्रकार निष्काम कर्मको भी किसी-किसी स्थानपर भक्तिका द्वार कहा गया है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर भक्तकी कृपाके बिना भक्ति प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसा कि श्रीमद्भागवत(11/12/9)में कहा गया है—

यं न योगेन न सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्याय-सन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥

बहुत यत्न करनेपर भी लोग योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, शास्त्र व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदिके द्वारा मेरी भक्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। अतः स्पष्ट है कि महत्कृपा ही भक्तिका कारण है, परन्तु दूसरी ओर श्रीमद्भागवत (10/47/24)में यह भी कहा गया है—

दानव्रततपोहोम-जपस्वाध्याय-संयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

अर्थात् दान, व्रत होम, जप आदि विविध श्रेयजनक कार्योंके द्वारा भक्ति साधित हाती है।

अतः सामञ्जस्य क्या है? यहाँपर दो विचार हैं—

(1) यह ज्ञानमिश्रा सात्विकी भक्तिके लिये कहा गया है। श्रीमद्भागवत्‌में भगवान् कपिलदेवने माता देवहूतिको सात्विक भक्तिका लक्षण बताते हुए कहा है—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् ता तदर्पणम्
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृधग्भावः स सात्विकः। (श्रीमद्भा.3/29/10)

अर्थात् जो लोग पापोंका क्षय करनेके लिये परमात्माको अर्पण करनेके लिये एवं पूजन करना कर्त्तव्य है—इस बुद्धिसे मेरा भेदभावसे पूजन करते हैं, वे सात्विक भक्त हैं।

➡ भक्ति भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है, वह निर्गुण है, वह सात्विक या मायिक नहीं है। परन्तु निर्गुण होनेपर भी स्वेच्छापूर्वक अपना अपकर्ष स्वीकारकर ज्ञानियोंको मुक्ति प्रदान करती है, तब इसे सात्विक भक्ति कहते हैं। इसलिये जहाँ भी दान, व्रत, तपादिको भक्तिका हेतु कहा गया है, उसका तात्पर्य सात्विक भक्तिसे है, निर्गुण भक्तिसे नहीं।

उदाहरण—उत्तम भक्तोंका लक्षण है कि वे सबके प्रति समभाव होते हैं। उनमें विषमताका लक्षण नहीं होता। परन्तु बद्धजीवोंपर कृपा करनेके लिये उत्तम भक्त स्वेच्छासे मध्यम अधिकारको ग्रहण करते हैं।

(2) श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस श्लोकमें दान, व्रत, तप, जप, होम आदिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ दानका अर्थ विष्णु एवं वैष्णवोंको दिया हुआ दान है। व्रतसे एकादशी आदि विष्णु सम्बन्धी व्रत हैं। तपका अर्थ भगवान्‌के लिये भोग आदिका त्याग, होमसे वैष्णव होम अथवा भगवत् निवेदित प्रसाद दान, जपसे विष्णु मन्त्र गायत्री इत्यादिका जप। इस प्रकार श्रेय शब्दसे भक्ति अङ्गोंका ही बोध होता है। अन्य प्रकारके दान, व्रत, तप आदि कभी भी भक्तिके हेतु नहीं हो सकते।

<u>कर्मकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता</u>— कर्मकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता निम्न प्रकारसे सिद्ध होती है—

(1) कर्मसे प्राप्त फल नाशवान होता है, जबकि भक्ति क्रममें कभी नाश नहीं है। श्रीगीतामें भगवान्‌ने कहा है कि कर्म द्वारा प्राप्त स्वर्ग आदि फल तुच्छ एवं नश्वर हैं—

"ते तं भुक्तवा स्वर्गलोक विशालम् क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"

अर्थात् पुण्य कर्मके फलस्वरूप विशाल स्वर्गलोकका भोग करनेके पश्चात् पुण्य समाप्त होनेपर जीव पुनः मृत्युलोकमें आ जाता है। इस प्रकार प्रमाणित होता है कि कर्मका फल नश्वर है।

भक्तिके सम्बन्धमें भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।"

अर्थात् इस भक्तिके क्रममें न तो कभी नाश हाता है और न क्षय और न ही कोई दोष लगता है। जबकि कर्म यदि अपूर्ण रह जाये तो उसका कोई फल नहीं मिलता।

(2) कर्म मार्गमें पथभ्रष्ट होनेपर लोक निन्दा होती है, जबकि भक्ति मार्गमें पतनका कोई भय नहीं है। देवर्षि नारदने व्यासदेवजीसे कहा—

त्यक्तवा स्वधर्म चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रम भूदमुष्य कि को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥ (श्रीमद्भा.1/3/17)

जो लोग अपने वर्णाश्रम धर्मका त्यागकर भगवान्‌के चरणकमलोंका भजन करते हुए भगवत् प्राप्तिसे पूर्व ही यदि पतित हो जाते हैं (मृत्यु होनेपर, रोगादिके कारण भजन छूटनेपर अथवा पथभ्रष्ट होनेपर) तो भी उनका कोई अमङ्गल नहीं होता, किन्तु जो लोग केवल अपने वर्णाश्रम धर्मका ही पालन करते हैं, उनको कोई लाभ नहीं होता। यदि वे पथभ्रष्ट होते हैं, तो सारे जगतमें उनकी निन्दा होती है।

(3) कर्ममें त्रुटि होनेपर फल विपरीत हो सकता है एवं दोष लगता है जबकि भक्तिमें त्रुटि होनेसे दोष नहीं लगता।

कर्म मार्गमें विधि-निषेध, देश एवं कालके नियम होते हैं। अतएव त्रुटि होनेपर महाअनर्थ हो जाता है। उदाहरण—त्वष्टा ऋषिने यज्ञमें आहुति प्रदान करते समय 'इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व' ऐसे मन्त्रका उच्चारण किया, किन्तु उच्चारणमें उदात्त और अनुदात्तमें त्रुटि होनेसे यज्ञका विपरीत फल प्राप्त हुआ। यदि 'इन्द्र' शब्द अनुदात्त (निम्न स्वर) और 'शत्रो' शब्द उदात्त (उच्च स्वर) रूपमें उच्चारण हो तो यज्ञसे उत्पन्न सन्तान इन्द्रका वध करेगी। परन्तु दैववश त्वष्टा ऋषिने 'इन्द्र' शब्दका उदात्त एवं 'शत्रो' शब्दका अनुदात्त उच्चारण किया। अतः मन्त्रका अर्थ विपरीत हो गया अर्थात् 'इन्द्र जिसको मारेंगे, ऐसी सन्तान उत्पन्न हो।' यह अर्थ हो गया। इसलिये युद्धमें इन्द्रने वृत्रासुरका वध कर दिया।

भक्ति मार्गमें यदि भगवान्‌की स्तव-स्तुतिमें कोई अशुद्धि हो जाती है, तो भी भावग्राही भगवान् उसे ग्रहण कर लेते हैं, जैसाकि शास्त्रोंमें कहा गया है—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे
उभ्योस्तु सम पुण्य भावग्राही जनार्दनः।

अर्थात् संस्कृत व्याकरणके ज्ञानसे रहित व्यक्ति यदि भगवान्‌को 'ॐ विष्णाय नमः' कहकर कुछ समर्पित करता है एवं संस्कृत व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति 'ॐ विष्णवे नमः' कहकर भगवान्‌को कुछ समर्पित करता है, तो भगवान् दोनोंकी ही वस्तुको ग्रहण कर लेते हैं, जबकि पहले व्यक्तिके मन्त्र उच्चारणमें त्रुटि है एवं दूसरेका मन्त्र सही है। वास्तवमें भक्तिमें भगवान् मन्त्रकी शुद्धि-अशुद्धि न देखकर केवल भावको ही ग्रहण करते हैं। जैसाकि भगवान् श्रीगीतामें घोषणा करते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्तत्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

जो भी मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भक्तिपूर्वक समर्पित करता है, उसे मैं साक्षात् रूपमें ग्रहण करता हूँ।

(4) कर्म द्वारा प्राप्त फल भक्तिके अनुष्ठानसे सहज ही प्राप्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत्‌में भगवान्‌ने उद्धवसे कहा—

यत्कर्मभिर्यत तपसा ज्ञान वैराग्यंतश्च यत।
योगेन दान-धर्मेण रेयोमिरितरैरपि॥
सर्व मद्‌भक्तियोगेन मद्‌भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्ग मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥ (श्रीमद्भा.11/20/32-33)

कर्म, तप, वैराग्य, योग, दान, धर्म, व्रत आदिके द्वारा जो फल प्राप्त होते हैं, वह मेरा भक्त भक्तियोगके द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है। भक्तोंकी भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त अन्य कोई कामना नहीं होती। फिर भी यदि वे इच्छा करें तो अनायास ही स्वर्ग, मोक्ष एवं भगवान्‌के धामको प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी ओर भक्तिके बिना कर्म, ज्ञान, योग आदि सभी निष्फल हो जाते हैं। शास्त्रोंमें कहा गया है—

भगवद्‌भक्तिहीनस्य जाति शास्त्रं जपस्तपः
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्।

भगवद्‌भक्ति रहित लोगोंकी उत्तम जाति, वेदादि शास्त्र अध्ययन, तप आदि सब कुछ मृत शरीरको अलङ्कारों एवं वस्त्रोंको सजानेके समान व्यर्थ है।

इससे प्रमाणित होता है कि जिस प्रकार यह शरीर प्राणोंके अधीन है, उसी प्रकार कर्म, जप, तप आदि सभी भक्तिके अधीन हैं। बिना भक्तिके ये सब अपना फल भी प्रदान नहीं कर सकते।

(5) कर्ममें देश, काल, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान, शुद्धि आदिकी अपेक्षा रहती है, परन्तु भक्तिमें इन सबकी कोई अपेक्षा नहीं है।

न देशनियमस्तस्मिन् न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक॥

श्रीहरिनाम सङ्कीर्तनमें देश, काल, उच्छिष्ट, पवित्र, अपवित्र आदिका भी विचार नहीं है। हरिनाम कभी भी कहीं भी कर सकते हैं। जबकि यज्ञ आदि रातमें नहीं किये जाते। दान यदि कुपात्रको दिया जाये, तो दाताको उसके पापका फल भोगना पड़ता है। नृग महाराजने लाखों गायें दानकी, परन्तु थोड़ीसी त्रुटिके कारण उन्हें ब्राह्मणके शापका भाजन बनकर गिरगिटकी योनिमें रहना पड़ा।

(6) कर्मोंका आश्रय यह जड़ शरीर है। यह शरीर त्रिगुणात्मक है एवं मायिक है। अतः कर्मसे उत्पन्न फल भी त्रिगुणात्मक एवं इस मायिक ब्राह्मण्डके अन्तर्गत होता है। कर्मके द्वारा कभी भी निर्गुण वस्तु भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकते। भक्ति निर्गुण है एवं इसका आश्रय आत्मा है। वह भी निर्गुण है। निर्गुण भक्तिके द्वारा ही निर्गुण भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं।

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्।

हरि निर्गुण है तथा प्रकृतिसे परे हैं। वह सबके साक्षी हैं। उनका भजन करनेवाले निर्गुण हो जाते हैं।

<u>योग, ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता</u>—

ज्ञान, कर्म, योग आदिको अपना फल प्रदान करनेके लिये भक्तिकी सहायता लेनी पड़ती है, किन्तु भक्तिको अपना फल प्रदान करनेके लिये किसीकी सहायता नहीं लेनी पड़ती। श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके अनुसार ज्ञानके साधक चार प्रकारके हैं।

(1) जो लोग ऐसा मानते हैं कि भक्ति रहित 'केवल ज्ञान' ही मुक्ति देनेमें समर्थ है, ऐसे लोगोंको केवल क्लेश ही क्लेश मिलता है। ये लोग अति निन्दनीय हैं। ब्रह्माजीने भगवान्की स्तुति करते हुए ऐसे लोगोंके विषयमें कहा है—

श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेशामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा.10/14/4)

एकमात्र परम कल्याणके उपाय भक्तिको त्यागकर जो केवल ज्ञान प्राप्तिके लिये कठोर क्लेश स्वीकार करते हैं, उनको केवल क्लेश ही क्लेश प्राप्त होता है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार चावल रहित थोथी भूसीको कूटनेसे केवल श्रम अथवा क्लेश ही मिलता है। अतएव भक्ति ही एकमात्र सार वस्तु है।

(2) 'सर्वासामेव सिद्धानां मूलं तच्चरणार्चनम्'—समस्त साधनाओंकी सिद्धिका मूल श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंका अर्चन करना है। जो लोग ऐसे शास्त्र वचनोंको पढ़कर भक्तिमिश्र ज्ञानकी साधना करते हैं, परन्तु भगवान्के श्रीविग्रहको मायिक और अनित्य मानते हैं, वे बहुत कष्टसे योगारूढ़ दशामें भी भगवान्के श्रीचरणोंमें अपराधके कारण (भगवान्के विग्रहको मायिक समझना) मुक्तिलाभसे वञ्चित होकर अधःपतित हो जाते हैं।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्त भावाद विशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदंघ्रयः॥ (श्रीमद्भा. 10/2/32)

ब्रह्मादि देवगण गर्भस्तुति करते हुए कह रहे हैं—जो लोग आपके श्रीचरणोंका अनादरकर अपनेको मुक्त मानकर अभिमान करते हें, उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है। वे कठोर कष्टदायक साधनाओंके फलसे जीवन्मुक्त दशामें पहुँचकर भी अध:पतित हो जाते हैं।

(3) तृतीय श्रेणीमें वे ज्ञानी हैं, जो भक्तिमिश्र ज्ञानकी साधना करते हैं और श्रीभगवान्‌के विग्रहको सच्चिदानन्द मानते हैं। वे ब्रह्मसायुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।

(4) चतुर्थ श्रेणीके ज्ञानी भगवत्‌कृपासे किसी साधुका सङ्ग प्राप्तकर, उनके प्रभावसे मुक्तिकी वासना छोड़कर भक्तिरसके आस्वादनमें मग्न हो जाते हैं। उदाहरण—श्रीशुकदेव गोस्वामी।

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमः श्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे! आख्यान यदधीतवान्॥ (श्रीमद्भा.2/1/9)

हे राजन्! मेरी निर्गुण स्वरूप ब्रह्ममेंपूर्ण निष्ठा थी, फिर भी श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंने बलपूर्वक मेरे चित्तको आकर्षित कर लिया, जिससे मैंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥(श्रीमद्भा.11/20/31)

मेरी भक्तिसे युक्त जनके लिये ज्ञान और वैराग्य कल्याणकारी नहीं होते। भक्ति निर्गुण व निरपेक्ष है। वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। भक्त ज्ञान और वैराग्यकी कामना नहीं करते फिर भी वे भक्तिका अनुगमन करते हैं।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयन्याशुः वैराग्य ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥ (श्रीमद्भा.1/2/7)

भक्तिदेवी स्वयं ही अतिशीघ्र शुद्ध वैदिक ज्ञान और वैराग्य (युक्त वैराग्य) उत्पन्न कर देती है। इसलिये इनके लिये अलगसे प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित् जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

तात्पर्य— हे अजित्! जो लोग ज्ञानके लिये लेशमात्र भी प्रयास न करके आपके भक्तोंके निकट रहकर उनके मुखसे आपकी लीला-कथाओंका तन, मन, वचनसे श्रवण व सेवन करते हुए प्राण धारण करते हैं, आप त्रिभुवनमें किसीके द्वारा भी वशीभूत न होनेपर भी, उनके द्वारा वशीभूत हो जाते हैं।

ज्ञानसे प्रारब्ध कर्मोंका नाश नहीं होता, जबकि भक्तिसे अप्रारब्ध, प्रारब्ध, अविद्या आदि सभी का नाश हो जाता है।

श्रीलरूप गोस्वामी नामाष्टकमें कहते हैं—

यद्ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि विनाशमायाति विना न भोगै।
अपैति नाम! स्फुरणेन तत्त्वे प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥

तात्पर्य— जो प्रारब्ध कर्म ब्रह्मकी साक्षात्कारकी निष्ठाके द्वारा भी बिना भोगके नष्ट नहीं होता, वह प्रारब्ध कर्म भक्तोंकी जिह्वापर नाम प्रभुकी स्फूर्ति मात्रसे ही नष्ट हो जाता है।

<u>मोक्षकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता</u>—

श्रीलशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित् महाराजसे कहा—

राजन् पतिर्गुरुरणं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपति क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेमङ्गे भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥
(श्रीमद्भा.5/6/18)

हे परीक्षित्! भगवान् कृष्ण पाण्डवों एवं यदुवंशियोंके स्वामी, गुरु, इष्टदेव, सुहृद और पालक थे। वे कभी-कभी उनके आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। परन्तु फिर भी भगवान् अपने भजन करनेवालोंको मुक्ति दे देते हैं, किन्तु प्रेमभक्ति नहीं देते।

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं कि यहाँ पर मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये यह श्लोक बताया है। जब परीक्षित् महाराजके मनमें यह खेद हुआ कि उनके कुलमें भगवान्का कोई अवतार नहीं है, तब श्रीशुकदेव गोस्वामीने बताया कि जिस कुलमें भक्तोंका अवतार होता है वह अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् भक्तिके द्वारा ही वशीभूत होते हैं।

यहाँ 'कर्हिचित्' शब्दका तात्पर्य है कि भगवान् तक तक अपनी प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते जब तक कि प्रेमभक्तिकी प्राप्तिके लिये हृदयमें तीव्र उत्कण्ठा नहीं होती। यदि भक्तके हृदयमें भोग और मोक्षकी कामना रहती है, तो भगवान् उनको प्रेमभक्ति न देकर भुक्ति, मुक्ति दे देते हैं।

प्रश्न— कोई ऐसा मान सकते हैं कि कृष्ण प्रेमभक्तिके वशीभूत हो जाते हैं, अतः वे प्रेमभक्ति न प्रदानकर मुक्ति-भुक्ति देकर छुटकारा पा लेते हैं। क्या भक्तवश्यता कृष्णके लिये कष्टकर है?
उत्तर— प्रेमभक्ति कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति है। अतः यह भगवान्को अपने स्वरूप आनन्दकी अपेक्षा अधिक आनन्द प्रदान करती है। इसलिये भक्तवश्यता भगवान्के लिये अत्यन्त सुखकर है। परन्तु भगवान् अयोग्य व्यक्तिके वशमें नहीं होना चाहते अतः उन्हें प्रेमभक्ति नहीं देते।

<u>मुक्त पुरुषसे भक्तकी श्रेष्ठता</u>—

श्रीमद्भागवत्में परीक्षित महाराजने श्रीलशुकदेव गोस्वामीसे कहा—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण।
सुदुर्लभ प्रशान्तात्मा कोटिष्तपि महामुने (श्रीमद्भा.6/14/5)

जो लोग जीवोन्मुक्त हैं और ब्रह्मसायुज्य मुक्तिके निकट पहुँच गये हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें भी नारायण परायण प्रशान्त चित्त वाला व्यक्ति अति दुर्लभ है।

'जीवोन्मुक्त' — श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार— जो प्राकृत देहमें अवस्थित होकर भी उस देहके अभिमानसे रहित हैं, ऐसे लोगोंको 'जीवोन्मुक्त' कहते हैं।

प्रश्न— ज्ञानी व्यक्तिके जीवन्मुक्त होनेपर भी उसका प्रारब्ध नाश नहीं होता?
उत्तर— निर्विशेष ब्रह्मज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानियोंका चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानका साधन आत्मा-अनात्मा विषयक विवेक हैं, परन्तु इस मार्गमें क्रियादि रूप कोई उपासना नहीं है। अतः साधक देहमें भगवान्की ऐसी किसी शक्तिका उदय नहीं होता, जिसके फलस्वरूप प्रारब्ध कर्मोंका नाश हो सके। इसलिये

ज्ञानियोंके अप्रारब्ध, कूट, बीज आदि कर्म नष्ट हो जाते हैं, परन्तु फिर भी इस शरीरके कारण 'प्रारब्ध कर्म' के नाश होने तक उनको सायुज्य मुक्तिके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

प्रश्न—कृष्ण भक्तको 'प्रशान्त' क्यों कहा गया है?

उत्तर—

कर्मी— कर्मीके अन्दर भोगोंकी इच्छाएँ हैं, अतः वह कभी भी शान्त नही रह सकता। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान पुमांश्चरति निस्पृह।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

जिसने समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो आसक्ति रहित है, अहंकार एवं ममता रहित है, वही शान्ति प्राप्त करता है।

योगी— जो अणिमादि सिद्धि लाभ करना चाहते हैं, वे आत्मसुखके साथ प्रतिष्ठा भी चाहते हैं।

ज्ञानी— सायुज्य मुक्ति कामीमें स्वसुखकी कामना न होनेपर भी दुःख निवृत्तिकी वासना रहती है। सायुज्य मुक्तिकी साधनाकी जड़ है— संसारके कष्टोंसे निवृत्ति। अतः वह भी शान्त नहीं है।

यदि कोई कहता है कि दुःख निवृत्तिके लिये मुक्तिकी कामना नहीं है, बल्कि ब्रह्मसे एकता प्राप्तिके लिये मुक्तिकी कामना है। यहाँ भी ब्रह्मत्व लाभ करनेके गौरवकी कामना रहती है। अतः चित्त चञ्चल ही रहता है।

सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारुप्य, वैकुण्ठकी मुक्ति प्राप्त करनेवालोंके हृदयमें धामोचित ऐश्वर्य भोगकी कामना रहती है। अतः वे भी शान्त नहीं है।

कृष्ण भक्त— जब तक जीव एक नित्य, निश्चल एवं अनन्त सुख प्राप्त नहीं करता और उस आनन्दमें उसका चित्त पूर्ण रूपसे आविष्ट नहीं होता, तब तक चित्तकी चञ्चलता दूर नहीं हो सकती। कृष्णभक्त भगवान्की भक्तिरस एवं लीलारसका आस्वादन कर लेता है। अतः अब उसकी कोई कामना-वासना नहीं रहती। इस कारण वह 'प्रशान्त' हो जाता है। वह सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित होता है। उनके चित्तको ब्रह्मनन्द भी नहीं आकर्षित कर सकता। जबकि ब्रह्मनन्दमें मग्न मुनियोंको भगवान्के गुण आकर्षित कर लेते हैं और उनका चित्त चञ्चल हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

आत्माराश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहतुैकी भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरि। (श्रीमद्भा.1/7/10)

ब्रह्मानन्दमें मग्न मुनिगण क्रोध, अहंकारसे मुक्त होकर भी भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान्के गुण ऐसे मधुर है कि सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। वहीं दूसरी ओर भगवान्के भक्त भगवान्की सेवाको छोड़कर सायुज्य एवं वैकुण्ठकी मुक्ति भी नहीं चाहते।

प्रश्न— क्या जीवन्मुक्त अथवा सिद्ध पुरुषोंके लिये भी उपद्रव रह सकते हैं?

उत्तर— शास्त्रोंमें कहा गया है—

जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः।
यदचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥

अचन्त्यि महाशक्तिशाली भगवान्के श्रीचरणोंमें अपराध होनेपर जीवन्मुक्त महापुरुष भी संसार दशाको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान् कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिसे कहा—

सालोक्यसार्ष्टि सामीप्यसारुप्यैक्त्वमप्युत।
दायमानं न गृहणन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ (श्रीमद्भा.3/29/14)

प्रश्न— जो लोग भक्तिमिश्र ज्ञानकी साधना करते हैं, वहीं ज्ञानकी प्रधानता रहती है एवं भक्ति गौण रूपमें रहती है। अतः वहाँ भक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता किस प्रकार सिद्ध होगी? ऐसी भक्तिको भागवतमें सात्विक कहा है, फिर यहाँ भक्तिका निर्गुणत्व कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर– श्रीमद्भागवतमें भगवान् वामनदेवके आविर्भावका वर्णन है। भगवान् वामनदेव परम स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान और अप्राकृत सर्वगुणसम्पन्न है, फिर भी स्वेच्छापूर्वक उन्होंने इन्द्रके छोटे भाईका 'उपेन्द्र'के रूपमें अवतार लिया और इन्द्रको सदैव बड़े भाईका सम्मान दिया। उन्होंने बलिसे स्वर्ग छीनकर इन्द्रको दिया और उसका पालन-पोषण किया एवं बलिको पातालमें भेज दिया। इस प्रकार भगवान् इन्द्रको जो सम्मान प्रदान कर रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सचमें इन्द्रकी अपेक्षा छोटे हैं। यह उनकी इन्द्रपर कृपा है। इसमें भगवान्का अपकर्ष नहीं है, बल्कि उनकी भक्तवत्सलता है।

इसी प्रकार भगवान्की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति भक्ति भी भगवान्के समान परम करुण हैं। ज्ञानी साधक जानता है कि बिना भक्तिके आश्रयके ज्ञान भी अपना फल प्रदान नहीं कर सकता, इसलिये वह निर्विशेष ब्रह्मज्ञानके साथ-साथ भक्तिका भी साधन करता है। यहाँ भक्ति ज्ञानके अङ्गके रूपमें गौण रूपमें होती हैं। जिस प्रकार भगवान् उपेन्द्रने इन्द्रकी प्रधानता रखकर स्वयंको गौण रूपमें रखा, उसी प्रकार ज्ञानकी पुष्टिके लिये भक्तिदेवी भी अपनी स्वाधीनशक्तिको प्रकाशित न कर स्वेच्छापूर्वक ज्ञानाङ्ग रूपमें गौण होकर रहती है, जिसके फलस्वरूप ज्ञानीको मुक्ति प्रदान करती है।

करुणामय भक्तिदेवी निर्गुण होनेपर भी ज्ञानीके ज्ञान साधनको पूर्णता प्रदान करनेके लिये स्वेच्छापूर्वक या कृपापूर्वक सत्वगुणका अवलम्बन करती है। जिस प्रकार भगवान्ने छोटे भाई बनकर इन्द्रको स्वर्ग प्रदान कर दिया, उसी प्रकार निर्गुण होनेपर भी भक्तिदेवी सतोगुण अङ्गीकारकर ज्ञानीको मुक्ति प्रदान कर देती है, परन्तु इससे भक्तिके निर्गुणत्वकी हानि नहीं होती, जैसे कि उपेन्द्र बनने पर भी वे सर्वशक्तिमान भगवान् हैं।

प्रश्न—परतत्त्वके दो प्रकाश हैं— सविशेष (भगवान्) और निर्विशेष (ब्रह्म)। ब्रह्म भी मायातीत हैं। उस निर्विशेष ब्रह्मकी उपलब्धि प्रदान करनेके लिये भक्तिको मायिक सत्वगुणका अवलम्बन क्यों करना होता है? निर्गुणा भक्ति क्या अपने स्वरूपमें रहकर निर्विशेष ब्रह्मकी उपलब्धि प्रदान नहीं कर सकती?

उत्तर— निर्गुण भक्तिदेवी भगवान्की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है। यह भक्तिदेवी ही भक्ति साधकोंके निकट भगवान्के स्वरूपको प्रकाशित करती है। परन्तु ज्ञानी साधकोंके चित्तमें मुक्तिकी वासना रहती है। हृदय निष्काम न होनेसे भक्तिदेवी अपने निर्गुण स्वरूपमें उदित नहीं हो सकती। उनका हृदय सकाम या सगुण होनेके कारण भक्तिदेवी उनके हृदयमें सत्वगुणका अवलम्बन कर उनकी वासनाओंको पूर्ण करती है।

उदाहरण- दूधका रङ्ग सफेद होता है। परन्तु दूधको यदि काली बोतल (आवरक)में रखा जाये, तो अब उसका रङ्ग दिखाई नहीं देता। लाल बोतलमें रखनेपर दूध भी बोतलके रङ्गका (रञ्जक) दिखाई देता है। सफेद रङ्गके बोतलमें रखनेपर वह बोतलके समानही सफेद (प्रकाशक) दिखाई देता है, परन्तु यह भी उसका वास्तविक रङ्ग नहीं है। जब दूधको खुले गिलासमें रखते हैं, तभी उसका वास्तविक रङ्ग दिखाई पड़ता है।

इसी प्रकार भक्तिदेवी भी साधक (पात्र)के अनुसार अपने स्वरूपको परिवर्तितकर उनकी कामनाओंका फल प्रदान कर देती हैं। परन्तु भक्तिदेवीका वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही है। सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक नहीं।

<u>भक्तिके द्वारा हृदयरोग कामका विनाश—</u>

भक्तिमार्गमें कामादि दोषोंके रहते हुए भी मनुष्य भक्तिका अधिकारी है। परन्तु कर्म, ज्ञान, योगके साधक

कामादि दोष आनेपर निन्दित होते हैं एवं सर्वनाशको प्राप्त होते हैं। रासलीलाके वर्णनके पश्चात् श्रीलशुकदेव गोस्वामीने उसके श्रवण एवं कीर्त्तनके फलको बताया—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिद च विष्णो। श्रद्धान्वितोऽनुश्रणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृदरोगमाशवपहितोत्याचेरेण धीरः॥

श्रीकृष्णकी व्रजगोपियोंके साथ रासलीलाका निरन्तर श्रद्धायुक्त होकर श्रवण, कीर्त्तन करनेसे पराभक्ति प्राप्त होती है और शीघ्र ही हृदयरोग कामादि विकार दूर हो जाते हैं।

साधनके द्वारा पहले अनर्थ निवृत्ति, कामना-वासनाओंका नाश होता है। फिर साध्य वस्तु अर्थात् प्रेम भक्ति प्राप्त होती है। यही साधारण नियम है। किन्तु इस श्लोककी टीकामें बताया गया है कि कामादि विकारोंके रहनेपर भी रासलीला श्रवण-कीर्त्तनके प्रभावसे पराभक्ति प्राप्त हो जाती है और शीघ्र ही उसे इन विकारोंसे मुक्ति मिल जाती है। अतः साधकके हृदयमें इन विकारोंके रहनेपर भी वह भक्तिका अधिकारी हैं। यहाँ पराभक्तिसे प्रेमभक्ति अथवा गोपीप्रेमको लिया गया है।

साधकोंके साधन एवं साध्यका निष्कर्ष

कर्म, ज्ञान, योगमें साधन एवं साध्य अलग हैं। कर्मियोंका साधन यज्ञ, दान आदि है एवं भोग, स्वर्ग उनके साध्य हैं। ज्ञानियोंका साधन है— शम, दम, बाह्यज्ञान आदि एवं ब्रह्म सायुज्य उनका साध्य है। योगियोंके साधन यम, नियम, आसन आदि हैं एवं परमात्म सायुज्य उनका साध्य है। ये सब साधक सिद्धिके जितने पास जाते हैं, उनका साधन उतना ही कम होता जाता है एवं सिद्धि मिलनेपर साधन पूर्णतः समाप्त हो जाता है, अर्थात् साधन अपना फल देकर निवृत्त हो जाता है। अतएव कर्मी, ज्ञानी और योगियोंके साधन और साध्य अलग होते हैं।

परन्तु भक्तिमें साधन भक्ति, भाव भक्ति एवं प्रेमभक्ति एक ही अवस्थाकी 'तर' एवं 'तम' अवस्था है। इसमें साधक जितना सिद्धिकी ओर बढ़ता है, उसका साधन और अधिक बढ़ता जाता है। श्रीलनरोत्तमदास ठाकुरके अनुसार—

"पाकिले से प्रेमभक्ति, अपक्वे साधनरीति, भकति लक्षण तत्त्वसार"

तात्पर्य— जिस प्रकार एक ही आम अपरिपक्व अवस्थामें खट्टा होता है और परिपक्व अवस्थामें अत्यन्त सुस्वादु होता है, उसी प्रकार क्रमशः साधन भक्ति ही भावभक्ति और बादमें प्रेमभक्तिमें परिवर्तित हो जाती है। साधन अवस्थामें उसका आस्वादन तरल तथा भाव और प्रेम अवस्थामें आस्वादन क्रमशः प्रगाढ़ हो जाता है।

दूध जब दही बनता है, तो वह अपनी पूर्वावस्थाका त्याग कर देता है, परन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं है। भाव भक्ति ही प्रेमभक्तिमें एवं प्रेम क्रमशः स्नेह, मान, प्रणयमें अपनी पूर्वावस्थाको त्याग किये बिना ही परिणत हो जाता है। इस प्रकार बादकी अवस्थामें पूर्व अवस्था सदैव रहती है तथा आस्वादन क्रमशः बढ़ता जाता है। साधन अपना फल देकर निवृत्त नहीं होता, अपितु साध्य प्राप्त होनेपर भी प्रगाढ़ अवस्थामें बना रहता है।

द्वितीयामृत वृष्टि (साधन भक्तिका क्रम)

प्रश्न– उत्तमा भक्ति (शुद्ध भक्ति)का क्या स्वरूप है?
उत्तर– श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिवयामि मा शुचः॥ (श्रीगीता 18/66)

इस श्लोकमें भगवान्को कहना पड़ा है कि मैं तुम्हें पापोंसे मुक्त कर दूँगा। यहाँ पापोंसे मुक्त होनेकी कामना साधकके हृदयमें दिखाई दे रही है। अतः यह अन्याभिलाषिता है। 'सर्वधर्मान परित्यज्य'में भक्तिका लक्षण यह है कि साधक एकमात्र श्रीकृष्णकी ही शरण ले लेता है तथा अन्य समस्त धर्मोंका परित्याग कर देता है, परन्तु इसमें भगवान्के प्रति 'सेवा वासना' नहीं है, जो कि भक्तिका प्राण स्वरूप है। इसलिये श्रीमन्महाप्रभुने रायरामानन्द संवादके समय भक्तिके इस स्वरूपको 'बाह्य' कहा है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने कहा है—

आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥ (भा.11/11/32)

तात्पर्य— मेरे द्वारा शास्त्रोंमें बातये गये वर्णाश्रम आदि धर्मोंके गुण–दोषोंको सम्यक् प्रकार समझकर, जो इन समस्त धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरा भजन करता है, वही श्रेष्ठ है।

यहाँपर साधक यह विचार कर रहा है कि कर्म ठीक नहीं है, ज्ञानमें भी अति कष्ट है, अतः भक्ति ही करनी चाहिये। यहाँ पर देखा जा रहा है कि भक्ति स्वाभाविक रूपमें न होकर बुद्धिपूर्वक हो रही है। अतः यह भी उत्तमा भक्ति नहीं है।

उदाहरण– यदि एक स्त्री अपने पतिके गुणोंकी तुलना अन्य लोगोंसे करती है और इसलिये उसकी सेवा करती है कि उसका पति अन्य लोगोंसे अधिक सुन्दर एवं गुणवान है, तो यहाँ पतिके प्रति पत्नीमें स्वाभाविक प्रेमका अभाव है। यह उत्तम सेवा नहीं है।

कृष्णेत्तर कामना– वासनाओंसे रहित, ज्ञान–कर्मादिसे अमिश्रित, अनुकूल भावसे कृष्णकी सेवा भावसे युक्त भक्तिको ही 'शुद्ध भक्ति' या 'उत्तमा भक्ति' कहते हैं।

यहाँ शुद्ध भक्तिको एक कल्पलताके समान कहा है। जिस प्रकार एक कल्पलता उर्वर क्षेत्रमें ही उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भक्ति कल्पलता भी निष्काम भक्तके हृदय रूप उर्वर क्षेत्रमें ही आविर्भूत होती है।

प्रश्न—भक्ति कल्पलताका बीज क्या है?

उत्तर–

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु–कृष्ण–प्रसादे पाय भक्तिलता बीज॥

अर्थात् ब्रह्माण्डमें नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जीव जब महत्कृपाजनित सौभाग्यको प्राप्त करता है, तब गुरु और कृष्णकी कृपासे भक्तिलताका बीज प्राप्त करता है।

श्रील जीव गोस्वामीके अनुसार—

साधुसङ्गमें महत्पुरुषोंकी अहैतुकी कृपासे साधकके चित्तमें जिसमतिके द्वारा कृष्णसेवाकी वासना उत्पन्न

होती है, उस रतिकी अङ्कुर स्वरूप मतिको ही भक्ति कल्पलताका बीज कहा गया है।

माली हञा करे सेई बीज आरोपण।
श्रवण-कीर्त्तन-जले करये सेचन॥ (चै.च.11/151-52)

साधकोंके इन्द्रिय रूपी क्षेत्रमें श्रवण-कीर्त्तनादिके जल द्वारा सिञ्चन होनेपर, उसी बीजसे भक्तिलता उत्पन्न होती है।

भगवत्-सेवाकी वासना ही भक्तिलताका बीज अथवा 'प्राण' है। केवल 'निष्काम हृदय'को भी उर्वरक क्षेत्र नहीं कह सकते। निष्काम हृदय यदि 'सेवाभाव'से युक्त है, तभी वह उर्वरक क्षेत्र होगा, जिसमें भक्तिलताका बीज अंकुरित होता है।

प्रश्न— जड़ इन्द्रियों द्वारा भगवान्‌की सेवा कैसे सम्भव है?
उत्तर- भक्ति पारसमणिके समान है। भक्ति अपने महाप्रभावसे इन्द्रियोंके जड़त्व (लोहपन)को दूरकर चिन्मयत्व (सुवर्णरूपता)को उत्पन्न कर देती है और तब चिन्मय इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा होती है।

साधक जब गुरुपदाश्रय करता है, तब उसके शरीरके दो अंश हो जाते हैं—जड़ अंश एवं चिन्मय अंश। भक्ति अङ्गोंका अनुशीलन करते-करते जड़ अंश समाप्त होने लगता है तथा चिन्मय अंश बढ़ने लगता है। अन्तमें एक स्थिति (प्रेम अवस्था) ऐसी आती है, जब जड़ अंश पूर्णरूपसे समाप्त होकर चिन्मयमें परिवर्तित हो जाता है। इस चिन्मय देहसे ही साधक सशरीर बैकुण्ठ चला जाता है। उदाहरण मीराबाई, ध्रुव महाराज, तुकाराम।

प्रश्न— जड़ शरीर भक्तिके प्रभावसे चिन्मय हो जाता है, परन्तु आत्माके स्वरूपमें पहलेसे ही चिन्मय इन्द्रियाँ हैं। फिर दोनों चिन्मय शरीर एक साथ कैसे सम्भव होते हैं?
उत्तर- जड़ इन्द्रियाँ जब पूर्णरूपसे चिन्मय हो जाती हैं, तब वे आत्माके स्वरूप (इन्द्रियों)के साथ तादात्म्य होकर एक हो जाती हैं। अतः तादात्म्य होनेके पश्चात् एक ही चिन्मय देह हो जाती है।

प्रश्न— यदि प्रेम अवस्थामें शरीर चिन्मय हो जाता है, तो देखा जाता है कि भक्त भी शरीरका परित्याग करते हैं, इसका क्या कारण है?
उत्तर- भक्तोंका शरीर अवश्य ही चिन्मय होता है फिर भी वे— अपनी इच्छासे या लौकिक लीलाके उद्देश्यसे एवं अभक्तोंको मोहित करनेके उद्देश्यसे शरीरका परित्याग करते हैं। भक्त अपनी इच्छासे ही रोग, व्याधि आदि ग्रहण करते हैं। उदाहरण श्रीनरोत्तमदास ठाकुर एक बार अपनी इच्छासे बीमार हो गये। इस पर अन्य ब्राह्मणोंने उनकी निन्दा आरम्भ कर दी, तब यह विचारकर कि वैष्णव अपराध करनेके कारण निन्दक लोग पतित हो रहे हैं, वे अपनी इच्छासे ठीक भी हो गये।

कभी-कभी देखा जाता है कि गुरुवर्ग अपने शिष्योंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् उन्हें अपनी सेवाका सुयोग प्रदान करनेके लिये एवं अपनी सारी सेवा अपने शिष्योंको प्रदान करनेके लिये भी अस्वस्थ लीला करते हैं। अतएव शिष्योंको गुरुके प्रति मर्त्य बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। उदा. श्रीमाधेवन्द्रपुरीपादने जब अस्वस्थ लीलाकी तब उनके शिष्य रामचन्द्रकी उनके प्रति मर्त्य बुद्धि हो गई और वह उनको ज्ञानमूलक उपदेश प्रदान करने लगा, जिसके कारण वे पतित हुए, परन्तु श्रीईश्वरपुरीपाद अपने गुरुकी महिमाको जानते थे, उन्होंने अपने श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादकी खूब सेवा कि जिसके फलस्वरूप स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीईश्वरपुरीपादको अपने गुरुदेवके रूपमें अङ्गीकार किया।

प्रश्न— भगवत् प्रीतिके लक्षण क्या हैं?
उत्तर- कृष्णका सुख विधान ही जिनका जीवन है, ऐसे साधकोंके हृदयमें कृष्णको पानेकी स्पृहा जागृत होती है। उस स्पृहाके कारण ही कृष्णके नाम, रूप, लीला, गुण आदिकी अनुभूति होती है। कृष्णकी अनुभूति होनेपर जिस सुखका अनुभव होता है, इसीको भगवत्-प्रीति या भक्ति कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि प्रेमको उदित

करानेवाली शुद्धा भक्तिके तीन कार्य हैं—

(1) कृष्णको सुखी रखनेकी इच्छा ही भक्तिका प्राण हैं, अतः भक्तके हृदयमें कृष्णकी सेवाके अतिरिक्त अन्य कोई कामना नहीं होती। यहाँ प्रश्न होता है कि भक्त भगवान्‌की सेवाकी कामना करते है, यह भी तो एक कामना है?

(2) भक्तोंको अपने सुखकी कोई कामना नहीं होती केवल भगवान्‌की सेवाकर उन्हें सुखी करनेकी ही कामना होती है। इसलिये इसको कामना नहीं कहा जा सकता। शास्त्रमें कहा गया है—'हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।' अर्थात् भगवान्‌की सेवाको भक्ति कहते हैं, कामना नहीं।

उदाहरण किसी व्यक्तिका यदि हीरा खो जाये और वह उसे ढूँढ रहा हो, तो इसे स्वार्थ या लालच नहीं कह सकते, क्योंकि यह वह उसकी अपनी वस्तु है। परन्तु यदि अन्य लोग उस हीरेको ढूँढनेका प्रयास करें तो यह स्वार्थ एवं लालच है, क्योंकि वह उनकी वस्तु नहीं है। उसी प्रकार 'भगवान्‌की सेवा' जीवका अपना स्वरूप धर्म है, इसलिये सेवाकी इच्छाको कामना नहीं, बल्कि निष्कामता कहते हैं। भुक्ति और मुक्ति जीवके स्वरूप धर्ममें नहीं है, अतः इनकी कामनाको ही 'कामना' कहते हैं।

(3) . . . . . (मिसीन्ग)

प्रश्न—जब भक्तोंको कोई कामना नहीं होती, तो वे सुख नहीं पा सकते और ऐसा होनेपर भक्तिकी पुरुषार्थता नहीं रहती, क्योंकि 'आनन्द' ही पुरुषार्थ है?

उत्तर– भक्तोंको स्वसुखकी कामना न होनेपर भी उनको भगवान्‌की सेवा करके जो सेवा सुख प्राप्त होता है, उसी सुख या आनन्दको 'भगवत्–प्रीति' या भक्ति कहते हैं। यह सेवा–सुख भगवान्‌को सेवा द्वारा प्राप्त होनेवाले आनन्दसे भी अधिक होता है। भक्तोंके आनन्दको देखकर भगवान्‌को भी लोभ हो जाता है।
उदाहरण– श्रीराधारानीको कृष्णकी सेवा करके जो आनन्द मिलता है, उस आनन्दको देखकर श्रीकृष्णको भी लोभ हो जाता है कि मेरी सेवा करके श्रीराधारानीको जो अद्‌भुत आनन्द मिलता है, उसे मैं भी आस्वादन करूँ। अतएव उस आनन्दको आस्वादन करनेके लिये ही श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण होते हैं।

केवल सम्बन्ध स्थापित होनेसे ही प्रीति नहीं होती। सेवा करनेपर ही प्रीति होती है। उदाहरण एक स्त्रीका विवाह होनेपर शीघ्र ही उसकी अपने पति एवं उसके परिवारसे प्रीति नहीं होती, धीरे–धीरे सेवा करनेपर ही प्रीति उत्पन्न होती है।

सेवासे ही प्रीति होती है और प्रीति होनेपर ही आस्वादन सम्भव है। उदाहरण– दुर्योधन एवं कंसका कृष्णके साथ सम्बन्ध होनेपर भी इनके हृदयमें कृष्ण सेवाका भाव नहीं था। अतः कृष्णसे उनकी प्रीति भी नहीं थी। इसी कारण सामने रहनेपर भी वे कृष्णके माधुर्यका आस्वादन नहीं कर सके।

भाव (रति) अवस्थामें साधककी मन, बुद्धि आदि अन्तरेन्द्रियाँ तथा प्रेम अवस्थामें पाञ्चभौतिक देह क्रमशः चिन्मयत्वको प्राप्त हो जाती है। दीक्षाके समय जब भक्त आत्मसमर्पण करते हैं, तब कृष्ण उसी समय उन्हें आत्मसात्‌कर उनकी देहको चिदानन्दमय कर देते हैं। इस अप्राकृत देहसे ही भक्त उनकी सेवा करते हैं।

साधन भक्तिके प्रवर्तक भाव —— लोभ (रागानुगा भक्ति)
शास्त्र शासनका भय (वैधी भक्ति)

रागानुगा भक्ति— भक्तिकी स्निग्धता, सुन्दरता, कोमलता, स्वप्रकाशता आदि गुणोंको देखकर स्वतः ही साधकके मनमें उसकी प्राप्तिका लोभ जाग उठता है। ऐसा स्वाभाविक लोभ जिस भक्तिका प्रवर्तक है, उसे 'रागानुगाभक्ति' कहते हैं। इसमें साधक भगवान्‌के साथ अनेक सम्बन्ध जैसे—प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, ईष्ट आदि जोड़ लेता है। इस भक्तिके साधनमें सम्बन्धकी स्निग्धता रहती है और इसे पत्तीके ऊपरी भागके

समान कोमल बताया गया है तथा कोमल भागके समान यह सदा ऊपरकी ओर रहती है।

वैधी भक्ति— भक्तिके बिना जन्म-मृत्यु रूप संसार-सागरसे जीव पार नहीं हो सकता। माया-बन्धनसे मुक्तिका एकमात्र उपाय केवल भक्ति है—ऐसे शास्त्र वचनोंको सुनकर जो साधन भक्तिमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी भक्तिको 'वैधी भक्ति' कहते हैं। वैधी भक्तिमें साधककी प्रवृत्ति भगवान्‌की प्रीतिके लिये न होकर अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिये होती है। इसलिये इसे रूखा एवं कठोर कहा है। पत्तीके रूखे भागके समान वैधी भक्ति नीचेकी ओर रहती है।

महत्कृपासे साधकोंके हृदयरूपी क्षेत्रमें कृष्णसेवाकी वासना रूप भक्ति कल्पलताका बीज गुरु और कृष्णकी कृपाके द्वारा रोपित किया जाता है। श्रवण-कीर्त्तेन रूपी जलसे उसका सिञ्चन करनेपर शीघ्र ही उसमें अङ्कुर निकल आता है। तत्पश्चात् उसमें 'क्लेशघ्नी' एवं 'शुभदा' नामक दो पत्ते निकलते हैं। पत्तोंका भीतरी भाग अत्यन्त कोमल, चिकना और सुन्दर होता है, जिसे रागानुगा भक्तिके समान बताया गया है, क्योंकि इसपर राग और प्रेमका अधिकार रहता है।

पत्तोंका बाहरका भाग रुखा होता है। इसे वैधी भक्तिके समान कहा गया है। इसमें शास्त्र विधिकी ही प्रधानता रहती है।

जिस प्रकार लताकी पत्तियोंके सभी भागोंमें गुण समान होते हैं, उसी प्रकार साधनभक्ति रागानुगा हो या वैधी—दोनोंके गुण समान होते हैं अर्थात् क्लेश दूर करने और शुभ प्रदान करनेमें दोनों ही समान हैं।

महर्षि पतञ्जलिके अनुसार क्लेश पाँच प्रकारके होते हैं—
(1) अविद्या (2) अस्मिता (3) राग (4) द्वेष (5) अभिनिवेश

(1) अविद्या— अविद्या चार प्रकारकी होती है।

(क) अनित्य वस्तुको नित्य समझना— देह, गेह, स्त्री, पुत्र, विषय, वैभव आदि नाशवान् वस्तुओंको नित्य समझना।
(ख) अपवित्रको पवित्र समझना— रक्त, मॉस, अस्थि, मल, मूत्र आदिसे युक्त इस शरीरको पवित्र मानना या शरीरके प्रति भोग बुद्धि रखना।
(ग) दुःखको सुख समझना— सांसारके भोगोंके परिणाम स्वरूप जन्म, मरण, नरक आदि दुःख मिलते हैं। इन विषय भोगोंके प्रति सुख बुद्धि अथवा संसारिक भोगोंमें सुख अनुभव करना।
(घ) अनात्म वस्तुमें आत्म बुद्धि होना— देह तथा देहसे सम्बन्धित वस्तुओंमें आत्म बुद्धि होना।

(2) अस्मिता— 'अस्मि'—मैं अर्थात् 'मैं' और 'मेरा'का जो अभिमान है, उसे ही अस्मिता कहते हैं।

(3) राग— 'सुख प्राप्ति' और 'दुःख निवृत्ति'के उपायोंकी कामनाको राग कहते हैं। अथवा अभिलषित वस्तुको और अधिक रूपमें प्राप्त करनेकी कामनाको 'राग' कहते हैं।

(4) द्वेष— सुख या दुःखके कारणके प्रति विरक्तिको द्वेष कहते हैं। उदाहरण मिठाई खानेसे डायबिटिज हो गई, अब मिठाईको देखते ही उसके प्रति विरक्ति होना द्वेष है।

(5) अभिनिवेश— शरीरमें आसक्ति तथा मृत्युके भयको अभिनिवेश कहते हैं।

शरीर ही विषय भोग करनेका आधार है। अतः शरीरमें आसक्तिका मूल कारण विषय भोगके प्रति आसक्ति होना है। जीव विषय भोग वाञ्छाके कारण ही इस जगतमें आया है, अतः जड़ शरीर मिलनेसे पहले ही उसके अन्दर भोगोंकी कामना थी। इसलिये शरीरमें आसक्तिका मूल कारण भोगोंमें आसक्ति है।

ये पाँच क्लेश ही हृदयमें रहकर कर्म अथवा अकर्ममें प्रवृत्त करते हैं और इनके फलस्वरूप ही पाप और पुण्य होते हैं तथा पाप और पुण्यके कारण ही जीव सुख और दुःखका भोग करता है।

चार प्रकारके पाप भी क्लेशोंके अन्तर्गत आते हैं—
(1) अप्रारब्ध पाप (2) कूट पाप (3) बीज पाप (4) प्रारब्ध पाप

(1) **अप्रारब्ध पाप**— अनेक जन्मोंके सञ्चित पाप, जिनका भोगकाल अभी आरम्भ नहीं हुआ है तथा वे पाप जो इस जन्ममें हम कर रहे हैं— अप्रारब्धके रूपमें सञ्चित रहते हैं।

(2) **कूट पाप**- इन्हें रूढ़ या सूक्ष्म पाप भी कहते हैं। अप्रारब्ध पापोंको हम एक ही जन्ममें या एक ही योनिमें भोग नहीं कर सकते। अतः भगवान् जब कोई शरीर प्रदान करते हैं तो अप्रारब्ध पापोंमेंसे कुछ पापोंको निकालते हैं, जो कि जीव उस शरीरमें भोग कर सकता है। इन पापोंके समूहको ही कूट कहते हैं। समय आनेपर यही पाप बीजका रूप धारणकर अपना फल प्रदान करेंगे।
उदाहरण- जीव मनुष्य योनिमें अलग प्रकारके पाप भोग कर सकता है और पशु (कुत्ता, बन्दर, सुअर आदि) योनिमें वह अलग प्रकारके पापोंका भोग कर सकता है। अतः भगवान् जैसा शरीर देते हैं, उसीके अनुरूप पापोंको निकालकर उस शरीरमें भोग कराते हैं। यह पाप ही कूट (समूह अथवा ढेर) कहलाते हैं।

(3) बीज पाप— ये वासनामय पाप हैं। ये वासनाके रूपमें चित्तमें गुप्त रूपसे रहते हैं और समय आनेपर भगवान्‌की इच्छासे प्रारब्ध बनकर पापफलका भोग कराते हैं। इसी कारण ये पाप प्रारब्ध पापोंकी पृष्ठभूमि हैं।

प्रश्न— क्या मनुष्यके अतिरिक्त अन्य योनियों (देव, पशु, पक्षी, तिर्यग्)में भी जीव पापोंका सञ्चय करता है?
उत्तर- नहीं। कृष्ण बहिर्मुख जीवोंमें रहनेवाली अविद्या ही पापबीज (वासनाओं)का कारण है। इन वासनाओंको भोगनेके लिये ही जीवको विभिन्न प्रकार (देव, मनुष्य, पशु)के शरीर धारण करने पड़ते हैं। इन शरीरोंमें एकमात्र मनुष्य शरीर ही कर्ममय शरीर है। अन्य भोग शरीर हैं। मनुष्य कर्म करनेके साथ-साथ भोगोंकी वासना भी करता है, जो कि चित्तमें बीजके रूपमें सञ्चित होती रहती है, परन्तु इन वासनाओंका वह भोग नहीं कर पाता। मनुष्यके अतिरिक्त अन्य शरीरोंमें जीव केवल भोग करता है। उनमें जो वासनाएँ उदित होती हैं, उनका प्रारब्धके साथ ही भोग हो जाता है, परन्तु ये वासनाएँ चित्तमें बीज रूपमें सञ्चित नहीं होती। वह नई वासनाएँ भी उत्पन्न नहीं करता। इसलिये अन्य योनियोंमें जो पाप किये जाते हैं, उनके कारण जीवको अन्य जन्म नहीं लेने पड़ते। मनुष्य शरीरमें वह भोगकी अपेक्षा वासना (कामना) करनेमें ही लगा रहता है। अतः इन कामनाओंको भोग करनेके लिये उसे अनेकों जन्म लेने पड़ते हैं। नई वासनाएँ ही बार-बार जन्मका कारण है।

प्रश्न— देव योनिमें देखा जाता है कि इन्द्रने ब्रह्म हत्याकी तो उसे उसका पाप लग गया अथवा उसे गुरुका अपमान करनेका पाप लगा। फिर यज्ञ आदि करनेसे वे पाप दूर हो गये। देवताओं द्वारा पाप-पुण्य करनेसे क्या उन्हें उनका फल अगले जन्मोंमें भोग नहीं करना पड़ता?
उत्तर- देवताओं द्वारा जो भी पाप-पुण्य किये जाते हैं, उसका फल वे देव योनिमें ही भोग कर लेते हैं। इन कर्मोंके फलस्वरूप उनके चित्तमें नई वासनाओं (कामनाओं)का उदय नहीं होता। इस कारण देवताओंको इन कर्मोंके लिये नया जन्म नहीं लेना पड़ता। नई वासनाएँ ही पुनः-पुनः जन्मका कारण है, जिनको जीव उस जन्ममें अर्थात् एक योनिमें भोग नहीं पाता। इसलिये भगवान् उसे अनेक जन्मोंमें विभिन्न शरीरोंमें भोग कराते हैं।

अतएव मनुष्य देह ही एकमात्र कर्ममय देह है, अन्य सभी भोगमय देह हैं।

(4) **प्रारब्ध पाप**— पूर्व जन्मोंके सञ्चित पापोंमेंसे वे पाप जिनका भोग इस वर्तमान शरीरमें आरम्भ हो गया है, उन्हें प्रारब्ध पाप कहते हैं।

साधन भक्तिके प्रभावसे वह चाहे वैधी हो अथवा रागानुगा, उपर्युक्त पाँच प्रकारके क्लेश एवं चार प्रकारके पापोंसे उत्पन्न समस्त कष्ट विनष्ट हो जाते हैं। इसलिये साधन भक्तिको 'क्लेशघ्नी' कहा गया है। क्लेशोंके नष्ट होनेके पश्चात् समस्त शुभ लक्षण उसके अन्दर आ जाते हैं। इसलिये साधन भक्तिको 'शुभदा' कहा है।

प्रश्न— साधन भक्तिके द्वारा 'क्लेशोंका नाश' एवं 'शुभगुणोंका प्रदान' ये दोनों कार्य एक साथ कैसे होते हैं?
उत्तर–

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुधासम् (भा.11/2/42)

जिस प्रकार भोजन करने वालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति), पुष्टि (शक्ति) और क्षुधा निवृत्ति— ये तीनों एक साथ होते हैं, उसी प्रकार भजन करनेवाले साधकको प्रतिक्षण भगवान्के प्रति प्रेम, भगवान्के स्वरूपका अनुभव और संसारसे विरक्ति— तीनों एक साथ प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार भक्तिकल्पलताकी 'क्लेशघ्नी' और 'शुभदा' दोनों पत्तियाँ एक ही कालमें उत्पन्न होनेपर भी उनकी वृद्धिके तारत्म्यके अनुसार ही भक्तिके द्वारा क्लेशोंका नाश एवं शुभकी प्राप्तिका तारत्म्य होता है। अर्थात् इसका एक निश्चित क्रम है, परन्तु वह क्रम इतना सूक्ष्म है कि उसे सहज रूपमें नहीं समझा जा सकता। जिस प्रकार भोजनके प्रत्येक ग्रासमे ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति आंशिक रूपमें होती है, किन्तु भोजन करनेवालेके लिये इसका अनुभव करना कठिन है, उसी प्रकार भक्तिमें भी क्लेशोंका नाश एवं शुभगुणोंका उदय कितना हुआ है, इस क्रमका निर्धारण करना कठिन है।

श्रद्धा— भक्ति मन्दिरमें प्रवेश करनेके लिये प्रथम सोपान श्रद्धा है। महर्षि पतञ्जलिके अनुसार— चित्तकी सम्प्रसन्नताको ही श्रद्धा कहते हैं। (श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः) सम्प्रसन्नताका अर्थ किसी विषयमें सन्देहका नाश एवं वस्तुके विषयमें दृढ़ विश्वास— यही श्रद्धा है।

भक्तिके साधनमें जाति, कुल, स्थान, काल आदिका कोई विचार नहीं है। भक्तिमें प्रवेशका अधिकार एकमात्र श्रद्धा है। श्रद्धाके बिना कर्म, ज्ञान, योगमें भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। श्रीगीतामें भगवान्ने कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यतृ।
असदित्युच्ते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (श्रीगीता 17/28)

तात्पर्य— अश्रद्धापूर्वक किये गये होम, दान, व्रत, तप एवं अन्य कर्म असत् कहे जाते हैं। वे इस लोक अथवा परलोकमें कहीं भी फलदायक नहीं होते।

कर्म, ज्ञान, योगमें श्रद्धा केवल सिद्धिकी अवस्था तक रहती है। यह सामान्य श्रद्धा है।

ज्ञान मार्ग— साधन अवस्थामें ज्ञान (साधन), ज्ञानी (साधक), ज्ञेय (साध्य)— तीनों रहते हैं, परन्तु सिद्धि अवस्थामें केवल साध्य (ज्ञेय अर्थात् ब्रह्म) ही रहता है।

भक्ति मार्ग— श्रद्धा सिद्धिकी अवस्थामें भी रहती है। यह निर्गुण अथवा चिन्मय श्रद्धा है। साधन अवस्थामें साधक (भक्त), साधन (भक्ति), साध्य (भगवान्)—तीनों रहते हैं और सिद्धिकी अवस्थामें भी तीनों रहते हैं।

प्रश्न— साधन भक्ति 'शुभदा' है, अतः इसके प्रभावसे जगतके सभी जीव सन्तुष्ट हो जाते हैं एवं भक्तोंसे प्रेम करने लगते हैं, परन्तु देखा जाता है कि पाण्डवोंके भी दुर्योधन आदि अनेक शत्रु थे। इसका क्या कारण है?
उत्तर- जिस प्रकार सूर्य जगतका अन्धकार दूर करता है, परन्तु अन्धे व्यक्तिका अन्धकार वह दूर नहीं कर

सकता। सूर्य उल्लूको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। श्रद्धाहीन व्यक्ति अन्धे एवं उल्लूके समान हैं। भक्तोंकी एवं भगवान्‌की कृपा भी उनपर कोई प्रभाव नहीं डालती। यदि थोड़ी-सी भी श्रद्धा हो तो 'वैष्णव दर्शन' एवं 'भगवद्-दर्शन' हो जाता है। अतएव श्रद्धा नेत्रोंके समान हैं, जो भगवान्‌के दर्शन कराते हैं।

श्रील रूपगोस्वामीने साधकोंके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होनेका क्रम बताया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भास्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति
साधकानामय प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः। (भ.र.सि.1/9/15-16)

भक्ति साधनके प्रथम सोपान 'श्रद्धा'के दो लक्षण है—

(1) भक्ति शास्त्रमें वर्णन किये गये विषयोंके प्रति दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है।
(2) भक्तिशास्त्रमें कहे गये साधनोंके अनुष्ठानमें विशेष यत्नशील होकर उनके अनुसार कार्य करनेकी आदरपूर्वक इच्छा।

शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास होनेपर उसके फलस्वरूप दूसरा लक्षण अवश्य प्रकाशित होता है।

श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार— श्रद्धा एवं शरणागतिका एक ही तात्पर्य है। शास्त्रोंके अर्थमें दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है तथा शरणागति ही इस श्रद्धाका लक्षण है। जिनकी जितनी मात्रामें शरणागति है, वह भक्तिमें उतना ही उन्नत है। शरणागति ही भक्ति-साधनाकी जीवन-शक्ति है। श्रीगीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (श्रीगीता 18/62)

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरणागत हो जाओ, ऐसा होनेसे तुम्हें पराशान्ति एवं परमधामकी प्राप्ति होगी।

प्रश्न— श्रद्धा एवं श्रद्धालु व्यक्तिके क्या लक्षण हैं?
उत्तर- श्रील जीवगोस्वामी (भक्ति सन्दर्भ)के अनुसार— जिस प्रकार कीचड़में सोनेका टुकड़ा गिरनेपर व्यक्ति उसको ढूढँनेके लिये प्रयास करता है, उसी प्रकार शास्त्रोंमें श्रद्धावान होने पर जीव महापुरुषोंके आनुगत्यमें निरन्तर भजनकी चेष्टा करता है। ऐसे श्रद्धालुके हृदयमें लेशमात्र भी दम्भ और प्रतिष्ठाकी आशा नहीं रहती। वह कभी भी जानकर महापुरुषोंकी अवज्ञा आदि अपराध नहीं करता। यदि उसके मनमें पूर्वजन्मके संस्कारवश वासना उत्पन्न हो भी जाती है, तो उसे भक्तिमें बाधक समझकर उसका दमन कर देते हैं।

जिस प्रकार ऊँची इमारत बनानेके लिये मजबूत नींवकी आवश्यकता है, उसी प्रकार भक्ति रूपी इमारतके लिये 'दृढ़ श्रद्धा' रूपी नींवकी आवश्यकता होती है।

प्रश्न— क्या सेवा ही श्रद्धाको प्रकाशित करती है?
उत्तर- यदि कोई बहुत सेवा करता है, परन्तु आनुगत्य नहीं करता, तो इसका अर्थ है कि उसकी श्रद्धा नहीं है। आनुगत्यमय सेवा ही श्रद्धाका लक्षण है, स्वतन्त्र सेवा नहीं। महत्पुरुषोंके सङ्गमें ही भगवान्‌की स्फूर्ति होती है।

प्रश्न— क्या तत्त्वज्ञानके बिना भक्ति नहीं हो सकती?
उत्तर- जिस प्रकार युद्धमें कवच शरीरकी रक्षा करता है, परन्तु कवचसे युद्ध नहीं होता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान भी कवचके समान है। शास्त्रज्ञान भक्तिमें सहायक होता है, किन्तु केवल शास्त्रज्ञानसे भक्ति नहीं होती।

श्रद्धाके तारतम्यसे तीन प्रकारके भक्त–

(1) उत्तम भक्त— शास्त्र युक्तिमें सुनिपुण, दृढ़ श्रद्धावान, संसारका उद्धार करते हैं।
(2) मध्यम भक्त- शास्त्र युक्तिमें सुनिपुण नहीं है। दृढ़ श्रद्धावान, महाभाग्यवान।
(3) कनिष्ठ भक्त— कोमल श्रद्धायुक्त, भक्तोंके सङ्गमें क्रमशः प्रगति करेंगे।

श्रद्धा ——— स्वाभाविकी
श्रद्धा ——— बलपूर्वक उत्पादित (बलात् उत्पादित)

श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार—श्रद्धा ——— शास्त्रीय
श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार—श्रद्धा ——— लौकिक

स्वाभाविकी अथवा शास्त्रीय श्रद्धा— साधु सङ्ग और साधुकी कृपासे उत्पन्न श्रद्धा ही स्वाभाविकी या शास्त्रीय श्रद्धा है।

कपिलदेवने माता देवहूतिसे कहा—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रतिष्याति॥ (भा.3/25/25)

सत्पुरुषोंके सङ्गमें मेरे पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली एवं हृदय तथा कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका श्रवण करनेसे शीघ्र ही अविद्या निवृत्तिके फलस्वरूप मुझमें पहले श्रद्धा, फिर रति और अन्तमें प्रेमका क्रमसे उदय होता है।

इस श्लोकसे प्रमाणित होता है कि साधुसङ्गसे ही श्रद्धा उदित होती है।

बलात् उत्पादित या लौकिकी श्रद्धा— जो सत्सङ्गसे उत्पन्न नहीं होती बल्कि दूसरे लोगोंको देखकर उदित होती है।

उदाहरण- एक व्यक्तिने दीक्षा लेकर भजन आरम्भ किया और कुछ ही दिनोंमें वह धनवान हो गया। यह देखकर अन्य लोगोंने भी भजन करना आरम्भ कर दिया। इसे कहते हैं— लौकिकी श्रद्धा। क्योंकि यह लौकिक वस्तुओंपर निर्भर करती है।

इस श्रद्धाका शुद्ध भजनमें कोई महत्व नहीं है, परन्तु लौकिकी श्रद्धावाला व्यक्ति भी सत्सङ्गमें साधुकृपासे शास्त्रीय श्रद्धा लाभ कर सकता है।

श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार—साधक ——— रुचि प्रधान
श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार—साधक ——— विचार प्रधान

विचार प्रधान लोगोंमें श्रद्धा प्राप्तिका क्रम—
(1) सत्सङ्गमें हरिकथा सुनकर सर्वप्रथम उसकी भगवान् तथा भक्तोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् उसकी हरिकथामें रुचि उत्पन्न हो जाती है।

(2) हरिकथामें रुचि होनेपर वह भगवान्के विषयमें और अधिक जाननेकी इच्छा करता है। इसके लिये वह

एक दीक्षा गुरु अथवा एकसे अधिक श्रवण गुरुका आश्रय लेकर उनके निकट हरिकथा श्रवण करता है।

(3) श्रवण— उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अथ्रवाद और उपपत्तिके द्वारा शास्त्रोंके अर्थको भली प्रकार समझकर उसे हृदयमें धारण करनेको श्रवण कहते हैं। यह श्रवण भक्तिका अङ्ग है, परन्तु गुरुपदाश्रयसे पूर्व श्रवण भक्तिका अङ्ग नहीं है।

(4) इस प्रकार श्रवण करनेपर उसे यह ज्ञान हो जाता है कि भगवद्-भजन करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। इसीको 'शास्त्रीय श्रद्धा' कहते हैं।

रुचि प्रधान साधकको इस प्रकार विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वे सत्सङ्गमें भगवान्की लीला-कथाओंको सुनते हैं, सुनते ही उनकी कथाओंमें रुचि हो जाती है और फिर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। श्रद्धाके साथ पुनः-पुनः श्रवण करनेपर उनकी यह श्रद्धा प्रगाढ़ हो जाती है।

साधुसङ्ग— साधुसङ्ग दो प्रकारका होता है:—

(1) प्रथम साधुसङ्ग लौकिक या सामान्य होता है। इसमें भक्तिशास्त्रोंके श्रवण द्वारा श्रद्धा तथा साधु और शास्त्रोंके वाक्योंमें सुदृढ़ विश्वास होता है। तब वह यह समझ जाता है कि भजन करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। प्रथम साधुसङ्गका फल है— गुरुपदाश्रय।

(2) द्वितीय साधुसङ्गको शास्त्रीय साधुसङ्ग कहते हैं। गुरुपदाश्रयके पश्चात् साधक भजन-परिपाटीकी शिक्षा ग्रहण करता है। यह द्वितीय साधुसङ्गका फल है। सद्गुरु पदाश्रय ही भक्तिमन्दिरमें प्रवेशका द्वारा है।

सद्गुरुके लक्षण—

(1) समस्त वेद-शास्त्रोंमें पारदर्शी हो, कृष्णतत्त्ववेत्ता हो और शास्त्र प्रमाण एवं युक्ति द्वारा शिष्यका संशय नष्ट करनेमें समर्थ हो।

(2) भगवद्-अनुभूति सम्पन्न हो, जिससे अपने अनुभव द्वारा प्राप्त किये हुए रहस्यकी बातोंको शिष्यको बता सके। शान्त चित्त होना चाहिये।

(3) जिनको स्वयं भगवान्की कृपाशक्ति प्राप्त हो चुकी हो तथा वे अपने शिष्यके हृदयमें शक्तिका सञ्चार करनेमें समर्थ हो।

(4) काम, क्रोध, लोभादिके वशीभूत न हो तथा संसारसे विरक्त हो।

गुरुपदाश्रयके तीन अङ्ग—

(1) श्रीगुरुके समीप वासकर तन-मन-वचनके द्वारा गुरुदेवकी सेवाकर उन्हें प्रसन्न करना। इसको 'गुरुपसति' कहते हैं। इसमें गुरुदेव और शिष्य परस्पर एक-दूसरेके भाव व लक्षणकी परीक्षा करते हैं। [गुरुदेवकी विश्रम्भ भावसे सेवा करनेपर शिष्यकी गुरुदेवके प्रति ममता हो जाती है। तब वह गुरुदेवके श्रीचरणोंमें अपराध नहीं करता]

(2) इस प्रकार साधककी निष्कपट सेवा द्वारा सन्तुष्ट होकर गुरुदेव उसे 'दीक्षा मन्त्र' प्रदान करते हैं। दीक्षा-मन्त्र ही जीवोंके पुरुषार्थ—'कृष्णप्रेम प्राप्ति'का प्रथम बीज है। दीक्षासे पूर्व गुरु-सेवाका फल 'दीक्षा-मन्त्र'की प्राप्ति है।

दीक्षा— दी—दिव्य ज्ञान प्रदान करना
क्षा—पापोंका क्षय करना

दिव्य ज्ञान यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य सक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः॥

तात्पर्य— जो अनुष्ठान दिव्यज्ञान (सम्बन्ध ज्ञान) प्रदान करता है एवं पापों (पाप, पापबीज, अविद्या)का समूल नाश कर देता है। उस अनुष्ठानको 'दीक्षा' कहते हैं।

(3) विश्रम्भेण गुरुसेवा—दीक्षाके पश्चात् सद्गुरुके निकट भजन-परिपाटी, भगवत् धर्म और वैष्णव सदाचारकी शिक्षा प्राप्त होती है। दीक्षाके बाद विश्वासपूर्वक गुरुदेवकी सेवाकी जाती है। इस सेवाका फल है—साधनपथमें निर्विघ्न होना और शीघ्र ही 'प्रेमभक्ति' प्राप्त होना।

प्रश्न— विश्रम्भ या विश्वास क्या है?
उत्तर- जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिकी सेवा करते समय अपने पुत्र, भोग और गृहकी भी अपेक्षा नहीं रखती, उसी प्रकार शिष्य भी गुरुसेवाके समय श्रवण-कीर्त्तनसे प्राप्त आनन्द और निर्जन स्थानमें भजन आदिकी भी अपेक्षा नहीं रखेगा। अनर्थोंके नाश एवं भगवान्को प्रसन्न करनेमें अपनी चेष्टासे सफल नहीं हो सकते। एकमात्र गुरुदेवकी प्रसन्नता द्वारा ही यह सम्भव है। इसलिये सब प्रकारसे शिक्षा गुरु एवं दीक्षा गुरुकी विशेष रूपसे नित्य सेवा ही विश्रम्भ सेवा है।

प्रश्न— श्रुति एवं स्मृतिमें क्या अन्तर है?
उत्तर- श्रुति— श्रुति वेदको कहा जाता है। 'श्रुयते गुरु परम्परया इति श्रुति' अर्थात् जो गुरु परम्परासे श्रवणकी जाती है, उन्हें श्रुति कहते हैं। वेद श्रीभगवान्से प्रकट हुए हैं और गुरु-परम्परामें श्रवण किये गये। वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी व्यक्तिके द्वारा रचित नहीं हैं।

स्मृति— वेदोंके आधारपर समाजको चलानेके लिये जो नियम ऋषि-मुनियोंने बनाये हैं, उनको स्मृति कहते हैं।

शिष्य अथवा गुरु-सेवक तीन प्रकारके होते हैं-

(1) सामान्य शिष्य— इसकी भगवान्में तो दृढ़ निष्ठा होती है, किन्तु गुरुके प्रति वैसी निष्ठा नहीं होती।

(2) मध्यम शिष्य— इसकी गुरु और भगवान्में समान रूपसे निष्ठा होती है।

"यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ"

(3) उत्तम शिष्य (वैशिष्ट्यलिप्सु)— इसे विशेष सेवक भी कहते हैं। इसकी गुरुमें भगवान्से अधिक निष्ठा होती है। उदाहरण- माता देवहूतिने कहा "यदि भगवान्से अधिक मेरी गुरुके प्रति निष्ठा हो तो भगवान् मुझे दर्शन दें।"

श्रील रूपगोस्वामीके अनुसार— दास्य, सख्य, माधुर्य आदि भावोंके साधकोंको अपने सम भाववाले साधुका सङ्ग करना चाहिये। उससे भजनमें शीघ्र प्रगति होती है। अपनेसे श्रेष्ठ, भजनभिज्ञ, परम कृपालु, कोमल स्वभाववाले स्नेहशील साधुओंका ही सङ्ग करना चाहिये। इनके सङ्गसे साधकके हृदयमें शीघ्र ही साधन भक्ति, भाव और भक्तिरस प्रकाशित हो जाते हैं।

भजन क्रिया— (1) अनिष्ठिता भजन क्रिया (भजनमें शिथिलता)
(2) निष्ठिता भजन क्रिया (विशेष रूपेण स्थाप्यति—
भजनके अङ्गोमेंपूर्ण रूपसे स्थित हो जाना)

अनिष्ठिता भजन क्रिया— यह छःह प्रकारकी होती है। इसमें भजनके अङ्गोमें साधककी शिथिलता देखी जाती है। उसकी अभी निष्ठा उत्पन्न नहीं हुई है।

(1) उत्साहमयी भजन क्रिया— जिस प्रकार छात्र प्रारम्भमें जब पढ़ाई शुरु करता है और उसे सब कुछ समझमें आता है, तब तो वह नये-नये उत्साहके साथ और अधिक पढ़ाई करता है। वह सोचता है कि मैं सबके लिये प्रशंसनीय बन गया हूँ। उसी प्रकार साधक भजनके आरम्भमें विशेष उत्साहके साथ भक्तिके अङ्गोका पालन करता है, जिससे कि वह सबका प्रिय बन जाये।

(2) घनतरला— जिस प्रकार आरम्भमें विषय समझ आनेके समय छात्र पढ़ाईमें उत्साह दिखाता है, किन्तु विषयके कठिन होनेपर जब उसे विषय समझमें नहीं आता, तो उसके उत्साहमें कमी आ जाती है। फिर कभी विषय समझ आनेपर उसे आनन्द होता है। उसी प्रकार साधक आरम्भमें भक्तिके अङ्गोका उत्साहपूर्वक पालन आरम्भ करता है, उसमें रसका अनुभव करता है, उसकी नाम संख्या, सेवा आदि ठीकसे होती है, तब उसकी भजनक्रियामे गाढ़ता देखी जाती है। परन्तु अनर्थोंके कारण उसका यह उत्साह स्थायी नहीं होता। जब वह भजनके अङ्गोका पालन नहीं कर पाता, तो उसका उत्साह कम हो जाता है और भजनमें शिथिलता देखी जाती है। इस प्रकार भजनक्रियामें कभी गाढ़ता, कभी तरलता (शिथिलता) को 'घनतरला' कहते हैं।

(3) व्यूढ़ विकल्पा— अनिष्ठिता भजन क्रियामें जब साधकके मनमें भजन विषयक अनेक सङ्कल्प और विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसे व्यूढ़विकल्पा' कहते हैं। ये विकल्प दो प्रकारके होते हैं—

(1) साधक सोचता है कि मैं गृहस्थाश्रममें रहकर भजन करूँ या संसारका त्यागकर वृन्दावनमें जाकर भजन करूँ। वह सोचता है कि समस्त परिवारको शिक्षा-दीक्षा दिलाकर वैष्णव बना दूँ और सबके साथ घरमें ही भजन करूँ। फिर सोचता है कि घरमें रहकर विषयोंमें लिप्त हो जाऊँगा और चित्त स्थिर नहीं रहेगा। इसलिये घर छोड़ना ही ठीक है। फिर सोचता है विषयोंको भोगकर उनके दुःखोंको अच्छी प्रकार समझकर ही घर छोड़ना ठीक है, अन्यथा केवल बाह्य रूपसे विषय त्याग करनेपर मनमें विषयोंके प्रति आसक्ति बनी रहती है। पुनः सोचता है कि भोग करनेसे तो विषयोंके प्रति आसक्ति और बढ़ जायेगी और कब मृत्यु हो जाये, यह भी निश्चित नहीं है। स्त्री-रूपिणी माया सेवाके बहाने धीरे-धीरे पास आती है, इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँकी भाँति अपनी मृत्यु ही समझो। अतः गृहस्थाश्रमका त्याग करना ही ठीक है।

पुनः विचार करता है, मेरे माता-पिता बूढ़े हो गये हैं, बाल-बच्चे छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये अनाथ हो जायेंगे, इन्हें कौन सम्भालेगा? अतः माता-पिताकी मृत्युके बाद बच्चोंके बड़े होनेपर ही संसारका त्याग करना उचित है।

(2) साधकके हृदयमें भजनके अङ्गोके विषयमें भी संकल्प-विकल्प आते हैं। कभी सोचता है—नाम संकीर्त्तन ही भक्तिका सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है। फिर श्रवणकी महिमा सुनकर श्रवणका और कभी अम्बरीष महाराजकी तरह भक्तिके अनेक अङ्गोंका पालन करता है।

साधकोंके लिये निष्ठा उत्पन्न होनेसे पूर्व भक्तिके सभी अङ्गोका पालन करना उचित है, क्योंकि केवल एक अङ्गमें रुचि है और किसी कारणसे उसमें उसका मन खराब हो गया, तो उसके पास कोई विकल्प नहीं रहता, उसे सीधा घर जाना पड़ेगा। परन्तु यदि कई अङ्गोमें रुचि है, तो एकमें मन खराब होनेपर वह अन्य अङ्गोका पालन कर सकता है।

प्रश्न— क्या हम अभी 'नाम सेवा' कर सकते हैं?
उत्तर- जब तक हमें इस तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती कि 'नाम और नामी अभिन्न है' तब तक हम नाम सेवा नहीं कर सकते। निरहंकार होकर नाम करनेसे चित्त द्रवित होनेपर आँखोंसे अश्रु प्रवाहित होंगे। रोते-रोते नाम करनेपर नामप्रभु कृपा करेंगे। नाम प्रभुकी कृपासे 'नाम-नामी अभिन्न है'—इस तत्त्वकी अनुभूति होगी। जब नामप्रभु कृपा करके अपने स्वरूपको प्रकाशित करेंगे, तभी हम नाम सेवा कर सकते हैं।

(4) विषय संगरा— भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधक स्त्री, पुत्रादिसे उत्पन्न विषय सुखोंको दुःखजनक तो मानते हैं, परन्तु उनका परित्याग करनेमें समर्थ नहीं होते। ऐसे साधकोंका विषयोंके साथ युद्ध (सगर) होता है। कभी वह विषयोंकी निन्दा करता है और उसकी जीत होती है, परन्तु कभी वह विषयोंका भोग कर लेता है और इसमें विषयोंकी जीत हो जाती है। इस अवस्थाको ही 'विषय संगरा' कहा गया है।

विष्णु पुराणमें कहा गया है—

विषयाविष्ट चित्तानां विष्ण्वावेश सुदूरतः।
वारुणी-दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्॥ (विष्णुपुराण)

विषयाविष्ट चित्त व्यक्तिके लिये उसी प्रकार कृष्णमें मन निवेश करना अति कठिन है, जिस प्रकार पूर्वगामी व्यक्तिको पश्चिममें रखी वस्तु कभी प्राप्त नहीं हो सकती।

इस प्रकारके शास्त्र वचनोंको सुनकर भक्त विषय त्याग करनेका प्रयत्न करता है, परन्तु पूर्व-संस्कारोंके कारण वह विषय भोग कर लेता है। ऐसे साधकके लिये भगवान्ने उद्धवसे कहा है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चय।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुखोदर्कांश्च गर्हयन्॥ (भा.11/20/27-28)

(5) नियमाक्षमा— नियम पालन करनेमें अक्षम (असमर्थ) रहना।

इस दशामें साधक संकल्प करता है कि वह प्रतिदिन एक लाख नाम करेगा, वैष्णव एवं भगवान्को 1008 प्रणाम करेगा, वैष्णवोंकी नियमित सेवा करेगा, ग्राम्य वार्ता नहीं करेगा, विषयी लोगोंका सङ्ग नहीं करेगा, परन्तु अनर्थोंके कारण इन नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ रहता है।

विषय संगरा और नियमाक्षमामें अन्तर यह है कि विषयसंगरामें विषय भोगोंका त्याग करनेमें साधक समर्थ नहीं होता, जबकि नियमाक्षमामें भक्तिके उत्कर्षके लिये नियम पालन करनेमें असमर्थ रहता है।

(6) तरङ्गरङ्गिणी— जब साधक भक्तिमें प्रगति करता है, तो जगतके समस्त प्राणी उससे प्रेम करने लगते हैं। उसे लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, वैषयिक, ब्राह्म और ऐश्वर्य आदि अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। लाभ, पूजा, प्रतिष्ठाको भक्तिलताकी उपशाखा कहा गया है। ये साधकोंके श्रवण-कीर्त्तन रूपी जलके द्वारा सिञ्चित होकर स्वयं बढ़ जाती है एवं भक्तिकल्पलताको ढककर उसकी वृद्धिको रोक देती है। इसलिये साधकको इन उपशाखाओं (लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा)को काट देना चाहिये। इन उपशाखाओंको भक्ति महासागरमें उठने वाली तरङ्गोके रूपमें बताया गया है। साधक इन तरङ्गोंमें अपनी भजनक्रियाको रङ्ग (क्रीड़ा) करते हुए देखता है, इसलिये इसका नाम 'तरङ्गरङ्गिणी' है।

तृतीयामृतवृष्टि (अनर्थ और उनका विवरण)

अनर्थ— जो 'अर्थ' नहीं है, वही अनर्थ है। 'अर्थ' का वास्तविक अर्थ धन-सम्पत्ति नहीं, बल्कि परमार्थ वस्तु है। परमार्थ वस्तु कृष्ण और उनकी प्रेमसेवा है। अतएव कृष्णभक्तिकी कामनाके अतिरिक्त सब कामनाएँ अनर्थ है। अनादिबद्ध जीवोंकी भोगवासना ही समस्त अनर्थोंका मूल है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्रुतोऽनुपठितो ध्यान आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि॥ (भा.11/2/12)

भक्ति या भागवत धर्म ऐसा विलक्षण साधन है, जिसके श्रवणसे, कीर्त्तनसे, स्मरणसे, हृदयसे स्वीकार करनेसे या कोई इसका पालन करने जा रहा हो, उसका अनुमोदन करनेसे मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है, चाहे वह भगवान् एवं सारे संसारका द्रोही ही क्यों न हो। जो इस प्रकारकी भक्तिमें बाधा पहुँचाते है, वे ही अनर्थ है। ये 4 प्रकारके हैं—

(1) दुष्कृति-उत्थ अनर्थ— पूर्व जन्मोंमें किये गये कर्मोंके फलस्वरूप दुःखजनक विषयोंमें अभिनिवेश होना। पाँच प्रकारके क्लेश-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश— इनके द्वारा होनेवाले अनर्थ दुष्कृतीत्थ अनर्थ कहलाते हैं। रोग, भजनके प्रतिकूल शरीर आदि दुष्कृतोत्थ अनर्थ है।

(2) सुकृतोत्थ अनर्थ— पूर्वजन्मोंमें किये गये पुण्यकर्मोंके फलसे स्वर्गादि लोकोंके भोगकी कामनायें 'सुकृति-उत्थ अनर्थ' कहलाते हैं। मुक्ति व भुक्तिकी कामनायें इसके अन्तर्गत आती हैं। ऋषियोंने इसको भी अविद्या, अस्मिता आदि पाँच क्लेशोंके अन्तर्गत माना है।

(3) अपराधोत्थ अनर्थ— अपराधोंसे जो अनर्थ उत्पन्न होते हैं, उन्हें अपराधोत्थ अनर्थ कहते हैं। पाप और अपराध एक जैसे प्रतीत होनेपर भी उनमें बहुत बड़ा अन्तर है।

पाप—शरीर एक जड़ वस्तु है। इस शरीरके अनात्म (जड़) अभिमान तथा अनात्म (जड़) वस्तुके भोगके लिये मनुष्यके चित्तमें जो भोगवासनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन वासनाओंके फलस्वरूप अनात्म वस्तुके सम्बन्धमें तन, मन, वचन द्वारा जो असत् कर्म (हिंसा, असत्य बोलना, चोरी, मांस खाना, परस्त्री सङ्ग आदि) होते हैं, वे पाप कहलाते हैं। ये पाप तीन प्रकारके हैं—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीगण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर, मलावह, प्रकीर्ण।

अनात्मवस्तु सम्बन्धित (शरीर और मन) सम्बन्धित निन्दनीय कर्म ही पाप हैं। इसलिये पापका फल शरीर और मनको ही स्पर्श करता है, आत्माको नहीं। एक शुद्ध कृष्णनामके आभासके फलसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

पापका सम्बन्ध केवल अनात्म वस्तुसे है, आत्मासे नहीं। अतः इनका प्रभाव केवल शरीर और मन तक ही सीमित है, आत्मा तक नहीं।

अपराध—"अपगत राध इति अपराध"। 'राध' अर्थात् सन्तोष, 'अपगत' अर्थात् दूर होना।
जिस कारण अथवा क्रियासे नाम, गुरु, वैष्णव, भगवान्का सन्तोष (या प्रीति) हमसे दूर चला जाता है, उस क्रियाको 'अपराध' कहते हैं।

तन, मन, वचन द्वारा किसी ऐसे व्यक्तिकी हिंसा करना, जो कि आत्म धर्ममें प्रतिष्ठित हो चुका है, ऐसी क्रियाको 'अपराध' कहते हैं। अथवा आत्म वस्तु सम्बन्धित निन्दनीय कर्मोंको 'अपराध' कहते हैं।

जब कोई व्यक्ति भक्तिपथका अवलम्बनकर श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्ति अङ्गोका पालन करता है, तो उसका यह श्रवण, कीर्त्तन आदि आत्म वस्तु है, क्योंकि यह आत्माके उद्देश्यसे होते हैं। भगवान्, भक्त, नाम, धाम—ये सब चिद् वस्तु हैं। इनके प्रति प्राकृत बुद्धि द्वारा अवज्ञा, अनादर आदि बुरे कर्म ही 'अपराध' हैं।

अपराधका सम्बन्ध आत्म वस्तुसे है, अतः अपराधकी क्रिया साक्षात् आत्माको स्पर्श करती है। अपराधके फलस्वरूप कृष्णनाम बीजका अंकुर उत्पन्न नहीं होता और बार-बार नाम करनेपर भी प्रेम उत्पन्न नहीं होता।

अपराध दो प्रकारके होते हैं—

(1) विषयजातीय अपराध— जो अपराध भगवान्के प्रति किये जाते हैं, उन्हें विषयजातीय अपराध कहते हैं। इसके द्वारा भक्ति प्रवृत्ति ढक जाती है अथवा संकुचित हो जाती है। इसमें 64 प्रकारके सेवापराधोंको लिया गया है। भगवान्का निरन्तर नाम, स्तव, स्तोत्रादि पाठ तथा सेवा द्वारा ये अपराध दूर हो जाते हैं और भक्ति पुनः प्रकाशित हो जाती है।

(2) आश्रयजातीय अपराध— गुरु और वैष्णवों (महत्पुरुष)के चरणोंमें किये गये अपराध आश्रयजातीय अपराध हैं। इनके द्वारा भक्ति समूल नष्ट हो जाती है और शक्ति अन्तर्हित हो जाती है। महत्का तात्पर्य यहाँपर गुरु, वैष्णव, धामादि निर्गुण वस्तुओंसे है। इसमें नामापराधोंको लिया गया है। ये स्तव, स्तुति आदि करनेसे दूर नहीं होते।

प्रश्न— अपराधोंका मूल कारण क्या है?
उत्तर- द्वेष भावयुक्त कार्य ही समस्त अपराधोंके मूल हैं। द्वेषके कारण ही मनुष्य स्वयंको श्रेष्ठ एवं महापुरुषोंको निकृष्ट समझ लेता है, स्वयंको पण्डित और दूसरोंको मूर्ख समझता है और महत्पुरुषोंके प्रति अवज्ञा और अनादर करता है। इनको प्राकृत मान लेता है, जबकि ये अप्राकृत या निर्गुण हैं।

वैष्णवोंको पण्डित मानकर सम्मान करना भी अवज्ञा है, क्योंकि पण्डित माननेका अर्थ है—प्राकृत बुद्धि रखना। वैष्णव भगवान्के अनुचर हैं। अतः भक्तोंके प्रति कभी भी प्राकृत बुद्धि नहीं होनी चाहिये।

प्रश्न— पापका फल आत्माको स्पर्श क्यों नहीं करता, जबकि अपराधका फल आत्माको स्पश करता है? अपराधसे भगवान् रुष्ट क्यों हो जाते हैं?
उत्तर- यदि कोई व्यक्ति एक रिक्शेवालेको पीट देता है और रिक्शेवाला यदि पुलिसमें शिकायत करे, तो पुलिस उसके कहनेपर इस व्यक्तिको जेलमें नहीं डालेगी, क्योंकि रिक्शेवालेका पुलिससे कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यदि वही व्यक्ति किसी पुलिसके कर्मचारीको पीट दे, तो पुलिस तुरन्त आकर इस व्यक्तिको पकड़कर जेलमें डाल देगी, क्योंकि पुलिसके साथ उस कर्मचारीका सम्बन्ध है।

इसी प्रकार अपराधोंके द्वारा ऐसे व्यक्तिकी हिंसा होती है, जो आत्मधर्ममें प्रतिष्ठित है अर्थात् इसका सम्बन्ध भगवान्के साथ है, अतः भगवान्की प्रीति दूर हो जाती है।

पापके द्वारा ऐसे व्यक्तिकी हिंसा होती है, जो आत्मधर्ममें प्रतिष्ठित नहीं है, वह शारीरिक धर्मोंमें ही लिप्त है। इस व्यक्तिका भगवान्के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, अतः भगवान् पापोंके द्वारा रुष्ट नहीं होते। भक्ति, भक्त और भगवत् कृपा कृष्णप्रेम प्राप्तिके द्वार स्वरूप हैं। इनके प्रति अवज्ञा, अपराधसे कभी कृष्णप्रेम प्राप्त नहीं हो सकता। इनके प्रति सम्मान और शरणागत होकर भजन करनेसे ही अपराध दूर हो सकते हैं।

'अपराधोत्थ अनर्थ'से नामापराधको लिया गया है सेवापराधको नहीं, क्योंकि सेवापराध स्तव-स्तुति और भगवत्सेवासे दूर हो जाते हैं। परन्तु यदि कोई ऐसा सोचकर कि नाम, स्तव, स्तुतिसे सेवापराध दूर हो जाते हैं, सेवापराधके प्रति सावधान नहीं रहते, उनके लिये वही सेवापराध नामापराध बन जाते हैं।

प्रश्न— श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है—"हे उद्धव! भक्ति या भागवत-धर्मकी ऐसी महिमा है कि इसको एक बार आरम्भ करनेपर जब तक यह पूर्ण नहीं होता, तब तक इसका कोई नाश अथवा क्षय नहीं होता।" ऐसे शास्त्र वचनोंके बलपर भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान न करनेपर अथवा अङ्गहानि करनेपर नामापराध होगा कि नहीं?

उत्तर- नामके बलपर जहाँ पाप बुद्धि है, वह नामापराध है। जैसे कोई यह सोचता है कि 'मैं अब पाप कर लेता हूँ, बादमें भक्तिका अनुष्ठान कर लूँगा' दान-पुण्य कर लूँगा, इतना जप कर लूँगा'—इस विचारसे जो पाप करता है, वह नामापराध है। पाप ऐसे निन्दनीय कर्म है, जिनको करनेसे जगतमें निन्दा होती है और शास्त्रमें उसके प्रायश्चितकी विधि है।

भक्तिपथमें भगवत्-प्राप्ति ही एकमात्र उद्देश्य है। इसमें पाप करनेकी बुद्धि या इच्छा नहीं है। अतः यदि साधक सिद्धिसे पूर्व ही रोगग्रस्त हो जाये अथवा अन्य कोई बाधाके कारण साधक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता, तो इसमें कोई पाप नहीं है। भक्ति स्वयंप्रकाश वस्तु है, पूर्ण स्वतन्त्र है। उसमें कोई अङ्गहानि सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक भक्ति अङ्ग अपने आपमें परिपूर्ण है। यदि भक्तिका अनुश्ठान अधूरा रह जाता है, तो भी अपना फल प्रदान करता है। भक्ति अङ्गोंके पूर्ण न होनेपर जगतमें कोई भक्तोंकी निन्दा नहीं करता और न ही उसके अपूर्ण रहनेपर शास्त्रमें प्रायश्चितका कोई विधान है। इसलिये इसमें नामापराधकी कोई सम्भावना नहीं है।

भागवत-धर्म— श्रीमद्भागवतमें कवि योगीन्द्रने निमि महाराजसे कहा—

से वै भागवता प्रोक्ता उपाया आत्मलब्धये
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्।
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमोद्येत कर्हिचित्
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह। (भा.11/2/34-35)

भगवान्‌ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषोंको भी स्वयं अपने श्रीमुखसे अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय बताये हैं, वही 'भावगत धर्म' है। हे राजन्! इस भागवत-धर्मका अवलम्बन करनेसे मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बन्द करके दौड़नेपर भी न मार्गसे स्खलित होता है और न पतित और न फलसे वञ्चित होता है।

प्रश्न—उपर्युक्त श्लोकमें 'नेत्रे निमील्य' अर्थात् आँखोंको बन्दकर दौड़नेसे क्या अभिप्राय है?

उत्तर- 'आँखोंको बन्दकर दौड़ने'से तात्पर्य है कि व्यक्तिके आँखे हैं, परन्तु आँखे ठीक रहनेपर भी (व्यक्ति देख सकता है) वह आँखे बन्द करके दौड़ रहा है अर्थात् व्यक्ति अन्धा नहीं है। उसी प्रकार भक्ति मार्गमें आँख बन्दकर चलनेका तात्पर्य है कि साधकको साधु, शास्त्र और गुरु-उपदेशके विषयमें ज्ञान है, फिर भी निम्नलिखित कारणोंसे उससे अपराध हो जाते हैं—

1) शीघ्र हीलक्ष्य प्राप्ति (कृष्ण प्रेम)के लिये तीव्र गतिसे भजन करनेके कारण उससे सेवा अपराध हो जाते हैं।

2) भगवान्‌के प्रति विशेष अनुराग (प्रेम)के कारण सेवापराध हो जाता है। उदाहरण- पुजारी ठण्डके दिनोंमें पंखा चलाकर भूल गया। रातको जब उसे याद आया, तब मन्दिर खोलकर उसने पंखा बन्द कर दिया। (यह सेवापराध होनेपर भी भगवान्‌से प्रीतिके कारण रातको मन्दिर खोलकर पंखा बन्द कर दिया)

3) किसी विशेष कारणसे सेवापराध हो जाते हैं। उदाहरण- पुजारी अर्चन कर रहा था। उसी समय मन्दिरमें बन्दर घुस गया। अब वह अर्चन छोड़कर बन्दरको भगाने चला गया। यह सेवापराध है, क्योंकि अर्चन बीचमें छोड़कर नहीं जाना चाहिये।

4) 'धावन' अर्थात् तीव्र गतिसे दौड़नेके समय जिस प्रकार व्यक्तिका ध्यान जमीनपर नहीं रहता, लक्ष्यकी ओर ही रहता है और उस समय नेत्र खुले रहनेपर भी मार्गपर दृष्टि रखना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार इस भागवत-धर्मके पालनमें समस्त अङ्गोंको जाननेपर भी शीघ्र लक्ष्यकी प्राप्ति करनेके लिये साधक कुछ भक्ति अङ्गोंका पालन नहीं कर पाता, परन्तु मूलधर्मका अनुष्ठान करता रहता है। इसके कारण कुछ भक्ति अङ्गोकी हानि होनेपर भी न उसे कोई दोष लगता है, न ही वह फलसे वञ्चित होता है।

यदि भ्रम या प्रमादवश कोई व्यक्ति नामापराध करता है, तो निरन्तर हरिनाम करनेसे वे नामापराध दूर हो जाते हैं, परन्तु बुद्धिपूर्वक जानकर किये गये नामापराधका फल भयङ्कर होता है। वह हरिनाम करनेसे भी दूर नहीं होते।

नामापराध 10 प्रकारके होते हैं—

(1) **साधुनिन्दा—** जो साधु इस जगतमें कृष्णनामकी महिमाका जगतमें प्रचार करते हैं, उनकी निन्दा नामप्रभु कभी सहन नहीं कर सकते। अतः साधु निन्दा प्रथम तथा भीषण नामापराध है। यहाँ निन्दा शब्दका अर्थ श्रीधर स्वामीपादने बताया है—'निन्दनं दोषकीर्त्तनम्' अर्थात् सत्य हो या झूठ, दोषकीर्त्तनको ही निन्दा कहते हैं।

प्रश्न— दोषी व्यक्तिका दोष न देखनेपर उसका संशोधन कैसे होगा?
उत्तर- श्रीगुरु, महापुरुष तथा दोषको दूर करनेमें समर्थ व्यक्तियोंको ही दोषी व्यक्तियोंके दोष देखने चाहिये, जिससे कि वे उन दोषोंको दूर करके साधकको भक्तिके मार्गमें आगे बढ़ा सके। साधारण साधक दूसरेके दोषोंको देखकर उनकी निन्दा करेंगे तथा अपराधी बनेंगे। अतः उनको दूसरोंके दोष नहीं देखने चाहिये।

स्कन्दपुराणके अनुसार—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥

वैष्णवोंको मारना-पीटना, निन्दा करना, द्वेष करना, उनका अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध करना, वैष्णवके दर्शनसे आनन्दित न होना—इन छः वैष्णव अपराधोंके द्वारा पतन हो जाता है। वैष्णवोंके प्रति अश्रद्धा, अवज्ञा, साधुओंके कार्यमें असहिष्णुता दिखाना, उनके प्रति द्रोह—ये सब वैष्णव अपराध हैं।

वैष्णव अपराध मतवाले हाथीके समान होते हैं, जो भक्तिलताको जड़से उखाड़ फेंकते हैं। इसलिये साधकको वैष्णव अपराधके प्रति विशेष सतर्क रहना चाहिय। दैववश यदि साधुके चरणोंमें अपराध हो जाय, तो निम्नलिखित उपायोंसे उसे दूर करना चाहियेः—

1) वैष्णवके चरणोंमें अत्यन्त दुःखके साथ अनुताप करते हुए प्रणाम स्तुतिके द्वारा क्षमा-याचना करनी चाहिये।

2) यदि क्षमा-याचना करनेपर भी वैष्णव प्रसन्न न हों, तो उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनकी रुचिके अनुकूल लम्बे समय तक उनकी सेवा करनी चाहिये। इससे उनका चित्त द्रवित होगा और वे अपराध क्षमा कर देंगे।

3) यदि वैष्णव फिर भी क्षमा न करें, तो अत्यन्त अनुताप और आत्मग्लानिके साथ निरन्तर हरिनाम-संकीर्त्तन करना चाहिये। इससे अपराध दूर हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति ऐसा समझे कि हरिनाम करनेसे ही अपराध दूर हो जायेगा, वैष्णवके चरणोंमें क्षमा माँगनेकी क्या आवश्यकता है, तो यह ठीक नहीं है। यदि लज्जा, संकोच अथवा स्वयंको दूसरेके सामने नीचा न दिखानेकी इच्छाके कारण कोई साधक साधुसे क्षमा न माँगकर केवल हरिनाम करता है, तो उसका अपराध दूर नहीं होता, बल्कि अत्यन्त प्रबल नामापराध बन जाता है।

अनुताप करना ही अपराधका यथार्थ प्रायश्चित है। यदि महापुरुषोंके निकट क्षमा याचनाकर उन्हें प्रसन्न कर भी लिया जाये, परन्तु फिर भी यदि हृदयमें अनुताप नहीं है, तो अपराधीका हृदय शुद्ध नहीं होता। अतः अपने अपराधके लिये साधकको अपराध दूर हो जानेपर भी सदैव हृदयमें अनुताप करना चाहिये।

प्रश्न—क्या 26 गुणोंसे युक्त वैष्णवकी निन्दा ही अपराध है? जिनमें वैष्णवोंके 26 गुण नहीं है, ऐसे साधुकी निन्दा वास्तवमें अपराध नहीं है?

उत्तर- शास्त्रोंमें वैष्णवोंके 26 लक्षण बताये हैं:—

(1) कृपालु (2) अकृतद्रोह (किसीसे वैर न रखना) (3) सहनशील (4) सत्य उसके जीवनका सार है (सत्यसार) (5) समदर्शी (6) पापवासना रहित (7) परोपकारी (8) कामनाओंसे रहित (9) मधुर स्वभाव (10) पवित्र (11) संयमी (12) संग्रह रहित (13) वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा रहित (14) परिमित भोजन करनेवाला (15) शान्त (16) स्थिर बुद्धि (17) एकमात्र मेरे शरणागत (18) आत्मतत्त्वके चिन्तनमें लीन (19) प्रमाद रहित (20) गम्भीर (21) धैर्यवान् (22) भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु, शोक-मोह—इन छः को वशमें रखनेवाला (23) अमानी (स्वयं समानकी इच्छा न रखना) (24) मानद (दूसरोंको सम्मान देना) (25) तत्त्वज्ञान युक्त (सबसे मित्रवत् व्यवहार) (26) सबके प्रति करुणा।

यदि कोई समझे कि उपर्युक्त गुणोंसे युक्त व्यक्ति ही यथार्थ साधु है और जिनमें ये गुण नहीं है, वे साधु नहीं हैं, उनके प्रति अपराध या निन्दा कोई अपराध नहीं है, तो यह उनकी भूल है, क्योंकि पद्मपुराणमें कहा है—

सर्वाचारविवर्ज्जिताः शठधियो व्रान्या जगद्वञ्चका।
दम्भाहं कृतिपानपैशुजपराः पापास्त्यजा निष्ठुराः॥
ये चान्ये धनदारपुत्रनिरताः सर्वाधमास्तेऽपि हि।
श्री-गोविन्द-पदारविन्द-शरणा मुक्ता भवन्ति हिज॥

श्रीसनत्कुमारने नारदजीसे कहा—हे विप्र! सदाचार विवर्जित, शठबुद्धि, पतित, ववञ्चक, दम्भ, अहंकारयुक्त, मद्यपान करनेवाला, हिंसा परायण, अधार्मिक, अन्त्यज, निष्ठुर, धन, पुत्र, स्त्रीमें आसक्त एवं सब प्रकारसे अधम व्यक्ति भी श्रीगोविन्दके चरणोंमें शरण ग्रहण करनेपर संसारसे मुक्त हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे गीतामें कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (गीता (9/30)

तात्पर्य—यदि सुदुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भजन परायण होकर मेरा भजन करता है, तो उसे भी साधु मानना पड़ेगा, क्योंकि वह मेरी भक्तिमें निश्चयात्मिका बुद्धिवाला है। यहाँ पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने साधुके तीन लक्षणोंका वर्णन करते हुए बताया है कि 'अनन्यभाक्' कौन है—

1) जो कृष्णको छोड़कर अन्य देवी-देवताओंका भजन नहीं करता।
2) जो भक्तिके अतिरिक्त कर्म, ज्ञानादिका अनुष्ठान नहीं करता।
3) जिसके हृदयमें भगवत्-सेवाकी कामनाके अतिरिक्त भोग-मोक्षकी कामना नहीं है।

इस श्लोकमें 'मन्तव्य' शब्द विधिवाक्य है अर्थात् ऐसा भगवान्की आज्ञा है, अतः उसे नहीं माननेका अर्थ भगवान्की अवज्ञा करना है।

प्रश्न—जब ऐसे व्यक्तिके हृदयमें कोई कामना-वासना नहीं है, तो वह पाप क्यों करेगा? अपने भोगकी कामना ही पापोंका मूल है।

उत्तर- कभी-कभी पूर्वजन्मके कुसंस्कारोंके कारण या किसी प्रबल असत्संगके कारण दैववशतः उससे पाप हो जाता है, परन्तु पाप करना उसका स्वभाव नहीं है। ऐसे व्यक्तिसे यदि पाप हो जाये, तो भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका हृदय शुद्ध हो जाता है। इसलिये भगवान् उसके लिये कहते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेह प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (गीता 9/31)

वह दुराचारी व्यक्ति शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है। हे अर्जुन! यह प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

यहाँपर भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा न करके अर्जुनसे प्रतिज्ञा करनेके लिये कह रहे हैं, क्योंकि यह सम्भव है कि भगवान् अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दें (उदाहरण महाभारत युद्धमें शस्त्र न उठानेकी प्रतिज्ञा करनेपर भी भगवान्ने भीष्मको मारनेके लिये, भीष्मकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये शस्त्र उठा लिया, क्योंकि भीष्मने प्रतिज्ञा की थी कि मैं भगवान्से शस्त्र उठवा दूँगा) परन्तु भगवान् अपने भक्तोंकी प्रतिज्ञा कभी नहीं तोड़ सकते।

जो व्यक्ति 'अपि चेत् सुदुराचारो' श्लोकको देखकर भजनके साथ' दुराचार करते हैं अर्थात् बुद्धिपूर्वक पाप करते हैं और उसके लिये प्रायश्चित भी नहीं करते, वे साधु नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति नामके बलपर पाप करनेके कारण भयङ्कर नामापराधी हैं।

प्रश्न—जिन साधकोंसे दैववशतः पाप हो जाते हैं, उनके साथ किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये?

उत्तर-

(1) जो 'अनन्यभाव'से कृष्णका भजन कर रहे हैं, परन्तु पूर्वजन्मके कुसंस्कारोंके कारण यदि कभी उनसे पाप हो जायें, तो उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं करना चाहिये। श्रील रूपगोस्वामीने उपदेशामृतमें प्रीतिके छः लक्षण बताये हैं—'ददाति प्रतिगृह्णाति, रहस्यकी बात बताना और पूछना, उनको खिलाना तथा उनसे खाना। इन छः कार्योंके द्वारा उनसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिये।

(2) जिनके कुसंस्कार अत्यन्त प्रबल होनेके कारण वे बार-बार पाप कर रहे हैं, परन्तु 'अनन्यभाव'से भजन भी कर रहे हैं, उनके साथ केवल तीन व्यवहार करने चाहिय। उनको देना चाहिये, परन्तु उनसे कुछ लेना नहीं चाहिये। वे यदि कोई रहस्यकी बात बतायें, तो सुन लेनी चाहिये, किन्तु उनको अपनी बात नहीं बतानी चाहिये। उनको खिलाना चाहिये, परन्तु उनकी दी हुई वस्तु खानी नहीं चाहिये।

(3) जो 'अनन्यभाव'से भजन न करके भुक्ति-मुक्तिकी कामनासे भक्ति करते हैं, तो उनकी भक्ति उन्मुखी सुकृति भी नहीं बनती। उनकी कामना तो पूर्ण हो जाती हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति साधु नहीं हैं। (जैवधर्म अध्याय 17)

प्रश्न— श्रीमद्भागवत्में भगवान्ने कहा है कि कामनाओंसे रहित कामनावाला मुक्तिकामी और सभीको एकमात्र कृष्णका ही भजन करना चाहिये। जबकि जैवधर्ममें श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने कहा है कि भुक्ति-मुक्तिकामी व्यक्तिकी भक्तिप्रद सुकृति भी नहीं होती। फिर सभीके लिये भगवान्का भजन क्यों आवश्यक है?

उत्तर- सभीके लिये एकमात्र कृष्णका भजन ही कर्त्तव्य है, क्योंकि भुक्ति-मुक्तिकामी भी साधुसङ्गके प्रभावसे अपनी कामनाओंको त्यागकर भगवान्की निष्काम भावसे भक्ति करने लगते हैं। साधु एवं भक्तोंकी कृपासे तथा भक्तिके प्रभावसे उनकी समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं।

उदाहरण- ध्रुव महाराजने राज्यकी कामनासे भगवान्की तपस्याकी परन्तु भगवान्के दर्शनमात्रसे ही उनकी सारी कामना नष्ट हो गईं और उन्होंने कहा—"प्रभु! मैं आपके दर्शनोंसे कृतार्थ हो गया, अब मुझे वर नहीं चाहिये।"

इसलिये भक्ति-मुक्तिकामी भी यदि भगवान्का भजन करते हैं, तो उनकी शुद्ध भक्तिमें आनेकी सम्भावना रहती है।

वैष्णवोंमें 4 प्रकारके दोष नहीं देखने चाहिये—

(1) पूर्वदोष— भजनमें आनेसे पहले व्यक्ति यदि पापकर्मोंमें लिप्त था। उदाहरण- अजामिल, रत्नाकर दस्यु, हीराबाई वेश्या, बिल्बमङ्गल आदि।

(2) जातिगत दोष— शूद्र अथवा स्त्री यदि भक्तिमें आ जाये, तो उनकी जाति नहीं देखनी चाहिये।

(3) नष्ट प्रायः दोष— उनके दोष प्राय नष्ट हो गये हैं, परन्तु अभी पापोंका आभास रह गया है। उदाहरण- यदि घरमें चूहा मर जाये, तो चूहेको बाहर फेंकनेपर भी उसकी दुर्गन्ध रह जाती है।

(4) कदाचित् दोष— दैववशतः पूर्व जन्मके कुसंस्कारों अथवा असत्संगके कारण कभी-कभी पाप हो जाते हैं।

प्रश्न- महाभागवत समदर्शी होते हैं, वे सदैव प्रेमाविष्ट रहते हैं, अतः कोई उनकी निन्दा करता है, तो भी वे क्रोधित नहीं होते और किसीका अपराध ग्रहण नहीं करते, फिर उनकी निन्दा क्या अपराध नहीं है? स्तुतिसे वे प्रसन्न नहीं होते, फिर अपराध दूर कैसे होगा?
उत्तर- महाभागवत कभी किसीका अपराध ग्रहण नहीं करते, परन्तु उनकी चरणरेणु (उनके सेवक, शिष्य आदि) अपराधोंको सहन नहीं करती। उनकी चरणरज अपराधी व्यक्तिके तेजको हरण कर लेती है। महाभागवतके चरणोंमें अपराध करनेवालेका चित्त अत्यन्त कलुषित हो जाता है, अतः अपने चित्तकी शुद्धिके लिये तथा महापुरुषोंकी चरणरजकी प्रसन्नताके लिये महापुरुषोंकी स्तुति, प्रणाम एवं सेवा आदि करनी होगी, जिसके फलस्वरूप उनकी चरणरेणु अपराधोंको क्षमा कर देती है।

महाभागवत निन्दा करनेपर क्रोधित नहीं होते और स्तुति करनेपर प्रसन्न नहीं होते, वे देहात्मबुद्धिसे ऊपर उठ चुके होते हैं। परन्तु उनकी चरणरेणु अपराध ग्रहण कर लेती है, अतः प्रसन्न भी चरणरजको करना पड़ेगा। परन्तु महापुरुषोंके सेवक (चरणरज) कभी भी अपनी स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते, वे अपने स्वामी (महापुरुष)की स्तुतिसे ही प्रसन्न होते हैं, अतः उनके सामने महाभागवतकी स्तव-स्तुति एवं सेवा करनेसे वे अपराध क्षमा कर देते हैं।

उदाहरण- दक्षयज्ञमें दक्ष प्रजापतिने शिवजीकी निन्दा की। शिवजीने अपराध ग्रहण नहीं किया, फिर भी उनके सेवक नन्दीने अपराध ले लिया और दक्षको शाप दे दिया।

शिवके समान भी यदि कोई भक्तोंकी निन्दा करता है, तो उसका भी पतन हो जाता है, फिर साधारण साधककी क्या बात। 'कृष्णनाम' समस्त प्रायश्चित्तोंमें सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है, परन्तु अपराधी व्यक्तिका 'कृष्णनाम' भी उद्धार नहीं कर सकता। परन्तु जो अपराधके लिये अनुताप करते हुए वैष्णवसे क्षमा माँगता है तथा यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अब वैष्णव निन्दा नहीं करूँगा, उससे महाप्रभु शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं।

प्रश्न— महापुरुषोंकी निन्दा करनेपर अत्यन्त भीषण अपराध होता है, परन्तु देखा जाता है कि कभी-कभी महापुरुषोंके चरणोंमें अपराध करनेपर भी वे कृपा कर देते हैं, इसका क्या कारण है?
उत्तर- महापुरुष कृपा करनेमें सर्वसमर्थ एवं स्वच्छन्द चरित्रवाले होते हैं। कृपा करनेमें उनकी कोई मर्यादा स्थिर नहीं है। उनकी कृपाके कारणको जानना अत्यन्त कठिन है और कभी-कभी वे बिना किसी कारणके भी कृपा कर सकते हैं। इसलिये कभी-कभी वे अपने प्रति द्रोह करनेवालेके ऊपर भी कृपाकर उनका कल्याण करते हैं।

उदाहरण (1) रहूगण राजापर जड़भरतने कृपा की।
(2) चेदिराज उपरिचर वसुने दैत्योंके ऊपर कृपा की।
(3) नित्यानन्द प्रभुने जागाई-माधाईपर कृपा की।
(4) श्रील हरिदास ठाकुरने हीराबाई वेश्याके ऊपर कृपा की।

द्वितीय नामापराध—
(1) शिव आदि देवताओंको भगवान्‌से स्वतन्त्र ईश्वर मानना। इससे बहु ईश्वरवादका दोष उत्पन्न होता है। शिव और विष्णुके नाम, गुणादिको अलग-अलग मानना अपराध है।
(2) भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीला आदिको भगवान् (नामी)से अलग समझना।

शिव तत्त्व—

स्वतन्त्र चैतन्य— सर्वव्यापक, विभु भगवान् स्वतन्त्र चैतन्य। वे स्वराट् हैं ये 2 प्रकारके होते हैं—
(1) **मायास्पर्श रहित**— ये मायातीत, गुणातीत, कालातीत, नित्य सच्चिदानन्दमय हैं। उदाहरण- नारायण, राम, नृसिंह, वामन आदि।

ये सभी अवतार नित्य, स्वप्रकाश, मायातीत और जड़-अंशसे रहित हैं। प्रकृति (जड़-ब्रह्माण्ड)के उस पार कारण-समुद्र है, जिसको माया स्पर्श नहीं कर सकती। कारण-समुद्रके उस पार मायातीत भगवान्‌का धाम है, जो कि मायिक गुणोंसे रहित निर्गुण है। वहाँ भगवान् अपने परिकरोंके साथ नित्य विराजमान रहते हैं।

हरिर्हि निर्गुण साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥(भा. 10/88/2:)

भगवान् निर्गुण हैं, प्रकृतिसे अतीत सर्वद्रष्टा हैं, सबके साक्षी हैं। जो लोग उनका भजन करते हैं, वे निर्गुण हो जाते हैं।

भगवान् स्वयं निर्गुण हैं, इसी कारण उनका भजन करनेवाले भी निर्गुण हो जाते हैं।

(2) **मायास्पर्श युक्त चैतन्य**— जब भगवान् अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जगतकी सृष्टि, प्रलय आदि कार्योंके लिये मायाको स्पर्श करते हैं, उसे मायास्पर्श युक्त चैतन्य कहते हैं। उदाहरण- शिव।

शिवः शक्तियुक्तः शश्वत् त्रिलिंगो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥ (भा.10/88/3)

शिव कृष्णसे अलग दूसरे ईश्वर नहीं हैं, वे लीलाके लिये अलग स्वरूप धारण करते हैं। मायाका तमोगुण, तटस्थशक्तिका स्वल्पतागुण और चित्त शक्तिका ह्लादिनी मिश्रित संवित् गुण— ये तीनों गुण मिलकर विकार विशेष उत्पन्न करते हैं। यही विकारविशेष स्वांश ही त्रिलिंगरूप शिव है। ये कृष्णके गुणावतार हैं, अतः कृष्णसे अभिन्न हैं।

श्रील जीवगोस्वामीने ऋग्वेदके एक मन्त्रका उदाहरण दिया है—

"अथ नित्यो देव एको नारायणः ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः इत्यादि।"

नारायण ही एकमात्र देव हैं, ब्रह्मा और शिव भी नारायण स्वरूप है।

यदि भगवान् श्रीहरिके भक्तोंको शिवकी आराधना करनेकी आवश्यकता होती है, तो वे हरिका अधिष्ठान समझकर ही शिवकी पूजा करते हैं।

उदाहरण– 'विष्णुधर्मोत्तर'के अनुसार— विष्वक्सेन नामक हरिके एकान्तिक भक्तको बलपूर्वक मृत्युका भय दिखाकर शिवलिङ्गकी उपासना करनेकी एक ग्राम अध्यक्षके पुत्रने आज्ञा दी। विष्वक्सेनने 'ॐ नृसिंहाय नमः' मन्त्रका उच्चारणकर शिवलिंगके ऊपर पुष्पाञ्जलि प्रदानकी। यह देखकर ग्रामाध्यक्ष ब्राह्मणको मारनेके लिये जैसे ही तैयार हुआ, भगवान् नृसिंहदेव शिवलिंग तोड़कर प्रकट हो गये और ग्रामाध्यक्षके पुत्रका सपरिवार विनाश कर दिया। दक्षिण भारतमें आज भी 'लिङ्गस्फोट' नामक श्रीनृसिंहदेव विराजमान हैं। इससे विष्णु और शिवका अभेद तत्त्व सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवतके अनुसार (1/2/23) एक ही परब्रह्म तत्त्व विश्वकी वृष्टिख पालन और प्रलय करनेके लिये गुणावतारके रूपमें प्रकट होते हैं। श्रीविष्णु सत्वगुणके अधिष्ठाता रूपसे विश्वका पालन करते हैं, ब्रह्मा रजोगुणके अधिष्ठाता रूपसे विश्वकी सृष्टिकी करते हैं और शिव तमोगुणके अधिष्ठाता रूप्से सृष्टिका प्रलय करते हैं। श्रीविष्णु सत्वगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी भी सदैव उस गुणसे निर्लिप्त और अनावृत रहते हैं। शिव और ब्रह्मामें परब्रह्मत्वका अभाव है, ये धर्म, अर्थ, काम प्रदान कर सकते हैं, परन्तु मोक्ष नहीं। भगवान् विष्णु सत्वगुणसे सम्पन्न हैं, अतः वे मोक्ष भी प्रदान कर सकते हैं।

प्रश्न—ब्रह्मा व शिव मोक्ष प्रदान क्यों नहीं कर सकते?
उत्तर– श्रीमद्भागवतके अनुसार—

कैवल्यं सात्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिक च यत्।
प्राकृतः तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥

कैवल्य ज्ञान सात्विक है, देहादि विषयक ज्ञान राजसिक है, प्राकृत ज्ञान तामसिक है और मुझसे सम्बन्धित ज्ञान निर्गुण है।

श्रील जीवगोस्वामीने क्रमसन्दर्भमें 'कैवल्य' की परिभाषामें लिखा है—

"केवलस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शुद्धजीवाभेदेन ज्ञानं कैवल्यम्"

अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मके साथ शुद्धजीवका अभेद ज्ञान (ऐक्य ज्ञान) ही 'कैवल्य' है। अतः 'केवल' शब्द विर्निशेष ब्रह्माको सूचित करता है।

उपर्युक्त श्लोकके अनुसार— सत्वगुण ही निर्विशेष बह्मके साथ जीवेके अभेद ज्ञानको उदित कराता है। कैवल्य ज्ञान सात्विक है और विष्णु ही सत्वगुणके अधिष्ठाता हैं, अतः केवल वे ही मुक्ति प्रदान करनेमे समर्थ हैं, ब्रह्मा या शिव नहीं। ब्रह्मा और शिव क्रमशः रजोगुण और तमोगुणके अधिष्ठाता हैं।

प्रश्न— जब एक ही परतत्त्व ब्रह्मा, विष्णु वे शिवके रूपमें प्रकट होते हैं, तो ब्रह्मा व शिवकी आराधना करनेमें क्या दोष है?
उत्तर– 'उपासना भेदे जानि ईश्वर महिमा' अर्थात् गुणावतारोंकी उपासना भी गुणमयी होती है, निर्गुण नहीं होती। ब्रह्मा और शिव क्रमशः रजोगुण और तमोगुणके द्वारा आवृत रहते हैं। इसलिये उनकी उपासना भी राजसिक और तामसिक है। श्रीहरि सतोगुणको अंगीकार करते हैं, परन्तु उसके द्वारा आवृत नहीं होते, स्वयं निर्गुण ही रहते हैं, अतः उनकी उपासना भी निर्गुण है। जो लोग सांसारिक भोगोंकी कामना करते हैं, वे गुणमय देवी–देवताओंकी उपासना करते हैं। परन्तु जिनके मनमें भोगकी कोई कामना नहीं है, वे लोग शिव, ब्रह्मा

आदिकी गुणमय उपासना छोड़कर निर्गुण श्रीहरिकी आराधना करते हैं। इसलिये श्रीलरूपगोस्वमीने श्रीलघुभागवतामृतमें लिखा है—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लताष्वपि प्रेमदो भवति॥

कमलनाभ श्रीहरिके अनन्त अवतार हैं, वे सभी मङ्गलकारी हैं, किन्तु श्रीकृष्णके अतिरिक्त जड़, लता, गुल्मादिको अन्य कौन प्रेम प्रदान कर सकता है। इसलिये एकमात्र श्रीहरि ही उपास्य हैं और भक्ति ही वह निर्गुण उपासना है।

प्रश्न—क्या 'शिव' और 'सदाशिव' एक ही तत्त्व है?
उत्तर– 'सदाशिव' गुणावतार नहीं हैं, वे निर्गुण हैं तथा श्रीनारायणके समान श्रीकृष्णके अङ्ग विशेष हैं। ये सदाशिव ही शिवके अंशी हैं। सदाशिव ही तमोगुणको अङ्गीकार करके शिव बनते हैं। इसलिये शिव गुणावतार हैं। सदाशिव मायातीत हैं तथा कारण समुद्रके उस पार सदाशिव लोकमें वास करते हैं। गुणावतार शिव कैलाशमें वास करते हैं।

प्रश्न— द्वितीय नामापराधमें बताया गया है कि जो व्यक्ति श्रीविष्णु और शिवके नामादिमें भेद दर्शन करता है, वह नामापराधी है। दूसरी जगह शास्त्रमें बताया है कि जो व्यक्ति नारायणके साथ ब्रह्मा और शिवको एक समान मानता है, वह पाषण्डी है। इन शास्त्र वचनोंमें विरोध क्यों है?

(1) शास्त्रोंमें जहाँ विष्णु और शिवमें भेदकी बात कही है, वह ईश्वरकोटिके गुणावतार शिव नहीं हैं, वह जीव कोटिके शिव हैं, क्योंकि श्रीमद्भागवतमें शिवजीने कहा है—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्। (श्रीमद्भा.4/24/)

अर्थात् सौ जन्मतक निष्काम भावसे वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेपर जीव ब्रह्माके पदको प्राप्त करता है और उससे भी श्रेष्ठ करनेपर शिवके पदको प्राप्त करता है। अतः जिस कल्पमें शिव पदके लिये योग्य जीव मिल जाता है, उस कल्पमें जीवके अन्दर भगवान् अपनी शक्तिका सञ्चार कर देते हैं और वह प्रलय सम्बन्धी कार्य करता है। परन्तु यह जीव कोटिका है, इसलिये इसको भगवान्के समान समझनेसे व्यक्ति निश्चित ही पाषण्डी बन जाता है। जीव कभी भी भगवान्के समान नहीं हो सकता।

(2) इसी प्रकार सौ जन्मों तक निष्काम भावसे वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेवाले जीव ब्रह्मापद प्राप्त करते हैं तथा गर्भोदकशायी विष्णुके नाभिकमलसे ब्रह्माके रूपमें आविर्भूत होते हैं। भगवान् उनमें सृष्टि शक्तिका सञ्चार करते हैं। जिस कल्पमें इस प्रकार योग्य जीव नहीं मिलते, उस कल्पमें भगवान् गुणावतारके रूपमें ब्रह्मा होकर सृष्टिका कार्य सम्पन्न करते हैं। इन्हें 'हिरण्यगर्भ' या ईश्वर कोटिका ब्रह्मा कहते हैं। जीव कोटिके ब्रह्मको वैराज ब्रह्मा कहते हैं।

(3) साधारणतः ब्रह्मा जीव कोटिके होते हैं और कभी-कभी भगवान् ब्रह्मा बनते हैं, परन्तु रुद्र (शिव) साधारणतः ईश्वर कोटिके होते हैं और कभी-कभी जीव कोटिके शिव बनते हैं।

प्रश्न—द्वितीय नामापराधको दूर करनेका क्या उपाय है?
उत्तर– श्रीविष्णु एवं श्रीशिवके तत्त्वज्ञानका अभाव ही इस अपराधका मूल कारण है। ऐसे अपराधी व्यक्तिको इन दोनोंके यथार्थ तत्त्व ज्ञानको जाननेवाले साधुके निकट विष्णु और शिव तत्त्वको ठीक प्रकारसे श्रवण करना चाहिये। भगवत्-तत्त्व ज्ञान होनेसे भी अपराधका नाश नहीं होगा। किये हुए अपराधके लिये यथार्थ प्रायश्चित्त और अनुतापके साथ नामप्रभुके एकान्त शरणागत होकर नामसंकीर्त्तन करनेसे ही अपराध दूर हो सकता है।

यहाँ टेबल टाईप होना है।

रामेश्वरम् → मनुष्य → रामस्य ईश्वरः (रामके ईश्वर)
देवता → रामश्च असौ ईश्वरः (राम और शिव दोनों ईश्वर)
शिवजी → रामः ईश्वरः यस्य (राम जिनके ईश्वर हैं)

(3) **तृतीय नामापराध**— नाम-तत्त्वविद् गुरुको मरणशील और पाञ्चभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना नामापराध है।

(4) **श्रुति-शास्त्र निन्दा**— जिन्होंने कर्म, ज्ञान, योग आदि मार्गोंका परित्यागकर एकमात्र भक्तिपथका आश्रय ग्रहण किया है, उनमेंसे कोई-कोई कर्म और ज्ञान प्रतिपादक श्रुतियोंकी निन्दा करते हैं, यह नामापराध है, क्योंकि जो श्रुति-शास्त्र ज्ञान-कर्मादिके प्रतिपादक हैं, वे ज्ञान, कर्मके अधिकारियोंको भक्तिमन्दिरमें प्रवेश करानेके लिये हैं। कर्मकाण्डसे युक्त श्रुतियाँ स्वेच्छाचारी विषयासक्त पुरुषोंको स्वर्गादि सुखोंमें प्रवृत्तकर यज्ञ, दान, पुण्य आदि सकाम कर्मोंका उपदेश देती हैं, जिससे कि वे कर्मादिसे विमुख होकर अधिक स्वेच्छाचारी और निरंकुश न हो जायें। कर्म, ज्ञान, योगादिका अवलम्बन करके साधुसंगमें धीरे-धीरे भक्तिपथमें अग्रसर हो जायेंगे। अतः ऐसे श्रुति-शास्त्रोंकी निन्दा करना अपराध है।

इस अपराधको दूर करनेके लिये श्रुतियोंके तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका संग करना चाहिये तथा अपने मुखसे इन श्रुतियोंकी प्रशंसा करें तथा जो लोग ज्ञान, कर्मादिका अनुष्ठान कर रहे हैं, उनका बार-बार अभिनन्दन करें और उच्च स्वरसे नाम-सङ्कीर्तन करें, तभी इन अपराधोंसे मुक्त हो सकता है।

(5) **हरिनामकी महिमाको अतिस्तुति समझना (अर्थवाद)**— कोई व्यक्ति यदि यह समझता है कि शास्त्रोंमें जो नामकी महिमा कही गयी है, वह सत्य नहीं है, वह केवल नाममें रुचि उत्पन्न करानेके लिये बढ़ा-चढ़ाकर कही गई है। यह नामापराध है। ऐसे नामापराधी व्यक्तिका मन कलुषित हो जाता है और उसकी नाममें रुचि नहीं होती।

ऐसे नामापराधी व्यक्तिको नामपरायण महापुरुषोंके मुखसे हरिनामकी महिमाको सुनना चाहिये और अनुताप करते हुए एकान्तिक रूपमें नामप्रभुके शरणागत होकर निरन्तर नाम संकीर्त्तन करना चाहिये।

(6) **भगवान्‌के नामोंको काल्पनिक समझना**— जो लोग ऐसा मानते हैं कि ऋषियोंने अपने कार्यकी सिद्धिके लिये 'राम', 'कृष्ण' आदि नामोंकी कल्पनाकी है—वे अपराधी हैं। मायावादी और भौतिक कर्मवादी निर्गुण, निराकार, ब्रह्मको परमतत्त्व मानते हैं तथा नामको काल्पनिक समझते हैं। हरिनाम काल्पनिक नहीं बल्कि नित्य हैं, चिन्मय हैं। भक्तिके द्वारा हरिनाम चिद्-इन्द्रियोंपर आविर्भूत होते है।

(7) **नामके बलपर पाप करना**- जो लोग सोचते हैं कि नाम करनेसे समस्त पाप दूर हो जाते हैं, अतः हम पाप कर लेते हैं, बादमें नाम करके इन पापोंको दूर कर लेंगे—यह भयङ्कर नामापराध है। यदि अज्ञानवश भक्तोंसे पाप हो जाता है, तो नामके प्रभावसे वह नष्ट हो जाता है, परन्तु जानकर नामके बलपर पाप करना नामापराध है। इस अपराधको दूर करनेके लिये अनुताप करते हुए, नित्य वैष्णव वन्दना और वैष्णव सेवा करते हुए हरिनाम-सङ्कीर्तन करना चाहिये।

(8) **यज्ञ, दान, व्रत, धर्म आदि शुभकर्मोंको भगवान्‌के नामके समान समझना**- नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है, नाम श्रीहरिके अक्षरात्मक अवतार हैं, अतः हरिनामके साथ किसी भी सत्कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। कर्म जड़ है, जबकि नाम सर्वशक्तिमान, स्वयंप्रकाश चिन्मय हैं।

(9) **अश्रद्धालु व्यक्तिको नामका उपदेश करना**— श्रद्धाहीन व्यक्तिको नाम प्रदान करनेपर वह अवज्ञा करेगा। ऐसे व्यक्तिको नामका उपदेश देनेसे वह स्वयं मरेगा और उपदेश देनेवाले गुरुको भी अपराधी बनायेगा। श्रद्धाहीन व्यक्तिके हृदयमें पहले श्रद्धा उत्पन्न करानी चाहिये, उसके पश्चात् उसको नामका उपदेश करना चाहिये।

प्रश्न— भागवत कथा या नगर-संकीर्त्तनके समय श्रद्धालु और अश्रद्धालु सभी नामका उपदेश सुनते हैं, तो क्या भागवत वक्ताका यह नामापराध है?
उत्तर- किसी व्यक्ति विशेषके प्रति हरिनामका उपदेश करनेवालेके लिये ही यह अपराध होता है, जो उच्च स्वरसे केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये नाम-संकीर्त्तन या नामका उपदेश करते हैं और जो सारे व्यक्तियोंके कल्याणके लिये किसी व्यक्तियोंके समूहमें प्रवचन करते हैं, वह नामापराध नहीं है।

(10) नामकी महिमा सुनकर भी नामके प्रति प्रीति न होना तथा शरीरके प्रति "मैं" और शरीरसे सम्बनिधत पदार्थोंमें "मेरा" की बुद्धि रखना **दशम नामापराध** है।

योग— जो क्रिया जीवको भगवान्के साथ जोड़ती है, उसे योग कहते हैं।

कर्मयोग— वैदिक कर्म करते हुए कर्मका फल भगवान्को समर्पित करना और बदलेमें किसी भी प्रकारकी कामना न करना 'कर्मयोग' कहलाता है। निष्काम भावसे कर्म करनेको ही 'कर्मयोग' कहते हैं। शास्त्रोंमें इसको भक्तिका द्वार भी कहा गया है।

कर्मकाण्ड— जब कोई व्यक्ति 'कर्त्तापन' और 'भोक्तापन'के अभिमानके साथ वैदिक कर्म करता है, इसे कर्मकाण्ड कहते हैं।

कर्मयोग → ज्ञान + वैराग्य
ज्ञानयोग → ईश्वर चिन्तन
अष्टांगयोग → सेवा वासना
भक्तियोग

(4) भक्ति-उत्थ अनर्थ— यह अनर्थ 'भक्ति'से उत्पन्न होता है, इसलिये इसे 'भक्ति-उत्थ अनर्थ' कहते हैं। भजनके प्रभावसे साधकके पास धन, सम्पत्ति, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि आते हैं। इसलिये भक्तिकल्प लताको मूल शाखा और लाभ, पूजा, प्रतिष्ठाको मूल शाखाकी उपशाखाके समान कहा गया है। उपशाखा जिस प्रकार मूल वृक्षसे उत्पन्न होकर सिञ्चित जल एवं वृक्षके रससे स्वयं पुष्ट होती है तथा मूल वृक्षकी वृद्धिको रोक देती है, उसी प्रकार भक्ति उत्थ अनर्थ धन, यश, पूजा, प्रतिष्ठा आदि साधकोंके चित्तको उपरञ्जितकर मूल भक्तिकल्प लताको बढ़नेसे रोक देती है और अन्तमें इसको सुखा भी देती है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीरूप-शिक्षामें कहा है—(चै.च. 19ध158.161)

कृष्णकी सेवाके अतिरिक्त अन्य कामना ही जीवके लिये कपटता है। भुक्ति-मुक्ति, कामना, निषिद्धाचार, कुटीनाटी, जीवहिंसा, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि दुर्वासनायें चित्तमें उदित होनेपर भक्तिकी वासना हृदयसे धीरे-धीरे दूर हो जाती है। साधक इनकी प्राप्तिके लिये झूठ, परहिंसा, परद्रव्य हरण आदि दुराचार कर्म करने लगता है। उसका दुराचार लोगोंकी दृष्टिमें न पड़ जाये, इसलिये वह बाहरसे दीनताका प्रदर्शन करता है, परन्तु छिपकर दुराचार आदि कपटता करता है। अन्तमें उसका चित्त इस कपटतासे इतना कलुषित हो जाता है कि हृदयमें भजनकी इच्छा लेशमात्र भी नहीं रह जाती। इसलिये महाप्रभुने सर्वप्रथम इन उपशाखाओंको नष्ट करनेका उपदेश दिया है।

सब कुछ त्याग करनेपर भी समस्त अनर्थोंकी मूल 'प्रतिष्ठा'को त्याग करना सबसे कठिन है। प्रतिष्ठाशा हृदयमें रहनेपर उसके साथ मात्सर्य भी आ जाता है। 'मात्सर्य'को पति और 'प्रतिष्ठाशा'को पत्नी कहा गया है। प्रतिष्ठाशा रूप पिशाचीके गर्भसे 'हिंसा' और 'ईर्ष्या' दो सन्तान उत्पन्न होती हैं। इन सबके हृदयमें उत्पन्न

होनेपर चित्तकी सारी सद्वृत्ति नष्ट हो जाती है और अपवित्र चित्तमें भक्तिकी वासना नहीं रह सकती।

अनर्थ निवृत्तिका क्रम— चार प्रकारके अनर्थों (दुष्कृतोत्थ, सुकृतोत्थ, भक्त्योत्थ, अपराधोत्थ)का नाश एक साथ नहीं होता, बल्कि उनकी निवृत्तिके पाँच प्रकारके क्रम हैं—

(1) **एकदेशवर्तिनी**— अल्प परिमाणमें अनर्थोंकी निवृत्ति (10–25 प्रतिशत)को 'एकदेशवर्तिनी' कहते हैं।

(2) **बहुदेशवर्तिनी**— इसमें 75 प्रतिशत तक अनर्थ दूर हो जाते हैं।

(3) **प्रायिकी**— जब प्रायः सभी अनर्थ नष्ट हो जाते हैं और थोड़ी मात्रामें (10 प्रतिशत) अनर्थ शेष रह जाते हैं, उसे प्रायिकी कहते हैं।

(4) **पूर्णा**— जब शत-प्रतिशत अनर्थ नष्ट हो जाते हैं, परन्तु अनर्थोंका आभास रहता है, अर्थात् वे फिर किसी कारणसे उत्पन्न हो सकते हैं, उसे पूर्णा कहते हैं।

(5) **आत्यान्तिकी**— इस अवस्थामें अनर्थोंका आभास भी नष्ट हो जाता है अर्थात् दुबारा उत्पन्न होनेकी कोई सम्भावना नहीं नहीं रहती है। भगवत् प्राप्तिमें ही 'आत्यन्तिकी' अनर्थनिवृत्ति होती है।

<u>अनर्थ निवृत्तिका क्रम</u>

भजनकी विभिन्न अवस्थाएँ	सुकृतोत्थ/ दुष्कृतोत्थ अनर्थ	भक्त्युत्थ अनर्थ	अपराधोत्थ अनर्थ
भजन क्रिया	प्रायिकी	एकदेशवर्तिनी	एकदेशवर्तिनी
निष्ठा	पूर्णा	पूर्णा	बहुदेशवर्तिनी
रुचि	पूर्णा	आत्यन्तिकी	बहुदेशवर्तिनी
आसक्ति	आत्यन्तिकी		बहुदेशवर्तिनी
भाव/रति			प्रायिकी
प्रेम			पूर्णा
भगवत्पद प्राप्ति (पार्षद देह)			आत्यन्तिकी

भजनक्रियामें भक्त्युत्थ अनर्थकी एकदेशवर्तिनी होती है, क्योंकि ये अनर्थ भजनक्रियासे ही उत्पन्न होते हैं। भजनमें रुचि होनेपर लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदिकी कामना स्वतः पूर्णरूपसे नष्ट हो जाती है।

भजनक्रियासे पूर्व किसी भी प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति नहीं होती अतः श्रद्धा और साधु सङ्गके बाद भजनक्रियामें प्रवृत्त होना अति आवश्यक है। भजनमें शिथिलता आनेपर अनर्थ प्रबल हो जाते हैं और कभी-कभी भजन करनेकी इच्छाका भी लोप हो जाता है। अतः जब तक अनर्थोंकी निवृत्ति नहीं होती, तब तक भगवत्-प्राप्तिकी बात सोचना भी व्यर्थ है।

प्रश्न— क्या भाव अथवा प्रेम अवस्थामें भी साधकके हृदयमें अपराध उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है?
उत्तर-

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—

भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः

आभासताञ्च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि। (भ.र.सि. 1/3/54)

श्रीकृष्णके परमप्रिय भक्तोंके प्रति अपराध होनेपर जातरति साधकोंके भावका भी अभाव हो जाता है। रति आभासमें बदल जाती है और उत्कृष्ट रस सख्य, वात्सल्य आदि दास्य भावमें बदल जाते हैं। उदाहरण- द्विविद नामक बन्दर रामचन्द्रजीके पार्षद थे एवं प्रेम अवस्थाको प्राप्त कर चुके थे, परन्तु लक्ष्मणजीके श्रीचरणोंमें अपराध होनेके कारण उनका प्रेम अवस्थासे भी पतन हो गया और वह असुरोंका सङ्ग करने लगा। द्वापरके अन्तमें बलदेव प्रभुके हाथों वह मारा गया।

प्रश्न— कभी-कभी भगवान्के भक्तोंका भी पतन देखा जाता है, इसका क्या कारण है?
उत्तर- भगवत्-प्राप्तिके बाद भी महाराज चित्रकेतुके विषयमें जो महद्पराध देखा जाता है, वह अपराध नहीं है, क्योंकि महदपराधके फलसे भक्ति विलुप्त हो जाती है अथवा कम हो जाती है, परन्तु पार्वती देवीके द्वारा शाप देनेके बाद असुर बननेपर भी उनकी भक्ति नष्ट नहीं हुई। इसका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें वृत्रासुरके द्वाराकी गई भगवान्की सुन्दर स्तुति है। वृत्रासुरके वचनोंसे भगवान्के प्रति विशुद्ध प्रेम प्रकट होता है। यदि चित्रकेतु महाराजका अपराध होता, तो असुर योनि (वृत्रासुर) प्राप्त होनेपर भी उनका भगवान्के प्रति इतना प्रेम न होता।

'फलेन फलकारणमनुमीयते'— फलसे ही फलके कारणका अनुमान होता है।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें भगवान्के पार्षद जय-विजयके प्रति श्रीसनकादि ऋषियोंके शापका वर्णन हुआ है।

भक्ति किसी भी योनिमें हो सकती है, परन्तु साधन केवल मनुष्य योनिमें ही सम्भव है। भाव भक्त किसी भी योनिमें भक्ति कर सकते हैं। जय-विजयको शाप भगवान्की इच्छासे ही मिला, यह निम्नलिखित प्रमाणोंसे सिद्ध होता है—

1) बैकुण्ठमें काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि कुछ नहीं है। 'विगत कुण्ठ इत वैकुण्ठ'—जहाँ कोई कुण्ठा नहीं है, वह वैकुण्ठ है, फिर वहाँ जय-विजयको रोकनेपर चतुःसनको क्रोध कैसे आ सकता है।

2) जय-विजय भगवान्की नित्य-पार्षद स्वरूपमें सेवा करते हैं। नित्य-पार्षद देह प्राप्त होनेके बाद पतनकी कोई सम्भावना नहीं है।

3) चतुःसेन जितेन्द्रिय हैं, ब्रह्मभूत हैं, अतः उन्हें क्रोध कैसे आ सकता है?

प्रश्न— अजामिलके उपाख्यानमें देखा जाता है कि एक नामाभाससे ही अविद्या सहित समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब भक्तोंकी अनर्थ निवृत्तिका क्रम क्यों बताया गया है?
उत्तर-
श्रीपद्मावलीमें कहा गया है—

अहः संहरदखिल सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मंगलं हरेर्नाम॥

जिस प्रकार सूर्य उदित होकर सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीहरिनाम एक बार उच्चारित होनेसे ही जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देते हैं।

अजामिल उपाख्यानसे भी स्पष्ट है कि नामाभाससे ही उसके सारे पाप नष्ट हो गये, पापोंकी मूल अविद्या भी नष्ट हो गई और उसे भगवान्की प्राप्ति हो गई। शास्त्रोंमें श्रीनामकी जिस महिमाका वर्णन हुआ है, वह सम्पूर्ण सत्य है। निरपराधी व्यक्ति नामाभासके द्वारा ही समस्त पापोंका नाशकर वैकुण्ठको प्राप्त कर लेते हैं। उनको श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रिया आदि स्तरोंको पार नहीं करना पड़ता। उनके लिये केवल दो

ही सोपान हैं—नामग्रहण और वैकुण्ठ प्राप्ति। उदाहरण- अजामिल। अजामिलने अपने जीवनमें अनके पाप किये, परन्तु स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त रहनेके कारण उसे कभी साधु-निन्दा आदि अपराध करनेका अवसर नहीं मिला। इसलिये उसके निरपराध चित्तमें नामप्रभुने अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रकाशित कर दी और उसके समस्त पाप नष्ट हो गये तथा उसे भगवत् प्राप्ति हो गई। परन्तु नामापराधी व्यक्तियोंके प्रति अप्रसन्नताके कारण नामप्रभु अपनी शक्तिको प्रकाशित नहीं करते, इसलिये अपराधी व्यक्तियोंके लिये ही इस प्रकार शास्त्रोंमें अनर्थ निवृत्तिके क्रमको देखा जाता है।

जब तक नामापराधी व्यक्तिकी अनर्थ निवृत्ति नहीं होती, तब तक नामके मुख्य फल कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, परन्तु वह यम-यातनासे मुक्त हो जाता है, अर्थात् नामापराध करते हुए भी नाम-ग्रहण करनेवाले व्यक्तिपर यम या यमदूतोंका कोई शासन या दण्ड नहीं रहता। यमदूतोंका अधिकार केवल पापी लोगोंपर है, अपराधी लोगोंपर नहीं।

जो नामके बलपर पाप करता है, उसकी अनेक काल तक भी यमसे शुद्धि नहीं होती—ऐसा पद्मपुराणमें कहा गया है। इस शास्त्र वचनके तात्पर्यमें 'यम' शब्दका अर्थ अष्टाङ्ग योग वाले यम, नियम, आसन आदिके लिये आया है। यमदूतों अथवा यमराजके लिये नहीं, क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है—

यकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भयन् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥
(श्रीमद्भा. 6/1/19)

जिन्होंने अपने भगवत् गुणानुरागी मन-मधुकरको भगवान् कृष्णके चरणारविन्दके मकरन्दका एक बार पान करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित कर लिये। वे स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशधारी दूतोंको नहीं देखते, फिर नरककी तो बात ही क्या है।

इसलिये श्रीनामके निकट अपराध श्रीनामकी प्रसन्नतासे ही दूर हो सकता है, यम, नियम, आसन आदिके द्वारा वह अपराध नष्ट नहीं हो सकता।

प्रश्न— साधकसे ज्ञात अथवा अज्ञात रूपमें अपराध हो गया है, यह साधकको कैसे पता चलेगा? अपराध होनेके क्या लक्षण हैं?
उत्तर- 'फलेन परिचियिते'—फलके द्वारा ही फलके कारणका अनुमान लगा सकते हैं। अपराधके अतिरिक्त अन्य कोई बाधा महाशक्तिशाली हरिनामके फलको (कृष्ण-प्रेम) प्राप्त होनेमें बाधा नहीं दे सकती। यदि बहुत नाम-सङ्कीर्तन करनेपर भी प्रेमके चिह्न या सात्विक विकार प्रकाशित नहीं होते, नेत्रोंसे अश्रु नहीं निकलते, शरीरमें रोमाञ्च, पुलक आदि नहीं होता, तो निश्चित रूपमें समझ लेना चाहिये कि हमसे जानकर या अनजानेमें कोई अपराध हो गया है।

रोमाञ्च, कम्प, अश्रु, पुलक आदि अष्ट सात्विक विकार चित्त द्रवित होनेके बाह्य या गौण लक्षण हैं, ये सब अभ्यासके द्वारा भी सम्भव हो जाते हैं। हृदय द्रवित होनेके मुख्य लक्षण —क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नामगानमें सदा रुचि, भगवत् गुण-कीर्त्तनमें आसक्ति और धामवासमें प्रीति।

नामापराधके लक्षण—

1) अप्राकृत वस्तुओं (नाम, धाम, गुरु, वैष्णव आदि)के प्रति प्राकृत बुद्धि हो जाती है।

2) भगवान्के नाम, गुण आदि तुरन्त प्रेम प्रदान करनेवाले हैं, फिर भी लम्बे समय तक श्रवण, कीर्त्तन करनेके पश्चात् भी वे अपना फल प्रदान नहीं कर रहे हैं।

3) भगवान्का प्रसाद सेवन करनेपर भी अर्थात् चिन्मय प्रसाद भी साधारण भोज्य पदार्थोंके समान प्रतीत होते हैं।

4) धामादि सिद्धिप्रद हैं, फिर भी अनेक समय तक वहाँ वासके पश्चात् भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो रही है।

प्रश्न— क्या नामापराधी व्यक्तिका गुरुकरण करना व्यर्थ है?
उत्तर- अपराधसे ही इस शरीरकी सृष्टि हुई है। भगवान्को भूलकर अपने सुखकी इच्छाकी और अपनी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया—यही जीवका भगवत्-चरणोंमें अपराध हुआ और इस कारण जीवको यह मायिक शरीर प्राप्त हुआ। अतः निरपराध व्यक्ति इस जगतमें अत्यन्त दुर्लभ हैं। अपराधी व्यक्ति द्वारा गुरुकरण करके भगवान्के नाम-रूप-गुणादिका पुनः-पुनः श्रवण करनेपर भी प्रेम प्राप्त करना तो दूर, उल्टे अनर्थ बढ़ जाते हैं, तो क्या ऐसे व्यक्तिका श्रवण, कीर्त्तन आदि सब व्यर्थ है?

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपाद कहते हैं—जिस प्रकार बुखार आनेपर भोजन आदि रुचिकर नहीं लगता, परन्तु बुखार कम होनेपर वही भोजन धीरे-धीरे रुचिकर लगता है और रोग दूर होनेपर भोजन उसके शरीरको पुष्ट करता है, उसी प्रकार अपराधोंके प्रबल रहनेपर श्रवण, कीर्त्तन आदिमें रुचि नहीं होती। अधिक समय तक अपराध भोगनेके बाद अपराधोंका प्रभाव कम होनेपर भजनक्रियामें रुचि होने लगती है और अपराध नष्ट हो जानेपर साधकको प्रेम प्राप्त हो जाता है। इसलिये रुचिकर न होनेपर भी अपराधी व्यक्तिके लिये श्रीनाम, श्रीगुरु-वैष्णवोंकी निष्कपट सेवा ही एकमात्र औषधि है।

प्रश्न— भक्तोंको जो दुःख, कष्ट इत्यादि मिलते हैं, क्या वे प्रारब्धका फल हैं?
उत्तर- भक्तोंका कोई प्रारब्ध कर्म नहीं होता, भक्तोंके परम हितकारी भगवान् ही अपने भक्तोंमें दीनता और उत्कण्ठाकी वृद्धिके लिये उनको दुःख प्रदान करते हैं। यह भगवान्की भक्तोंपर कृपा है, जैसाकि शास्त्रमें कहा है— 'निर्धनत्वमहारोगो मदनुग्रहलक्षणम्' अर्थात् निर्धनतारूपी महारोग मेरी कृपाका लक्षण है।

पाण्डवोंका वनवास द्यूत-क्रीड़ामें प्रवृत्ति, अनेक कष्ट आदि किसी प्रारब्धके कारण नहीं है, क्योंकि पाण्डव भगवान्के नित्य परिकर हैं, उनका प्रारब्ध कभी सम्भव नहीं है।

प्रश्न— 'प्रेमके लक्षण दिखाई न देना अथवा पापोंमें प्रवृत्ति होना' क्या सदैव अपराधका ही फल है?
उत्तर- कभी-कभी निरपराध व्यक्तिमें भी प्रेमके लक्षणोंका अभाव एवं पापोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण- अजामिलमें प्रेमका अभाव था एवं दासी सङ्ग आदि पापोंमें प्रवृत्ति थी, किन्तु फिर भी उसका कोई अपराध नहीं था।

निरपराध व्यक्तिमें प्रेमके लक्षणोंका दिखाई न देनेका कारण है कि जिस प्रकार वृक्ष समय आनेपर ही फल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार भगवन्नाम भी निरपराध व्यक्तिके प्रति प्रसन्न होनेपर भी समय आनेपर ही अपनी कृपाा प्रकाशित करते हैं। इसलिये निरपराधी व्यक्तिकी पापोंमें प्रवृत्तिको विषरहित सर्पके काटनेकी भाँति प्रभावहीन समझना चाहिये। उनकी पापोंमें प्रवृत्ति पूर्व-संस्कारोंके कारण ही होती है।

अजामिलने जब पहली बार 'नारायण' नाम लिया, तभी उसके सारे प्रारब्ध पाप नष्ट हो गये थे, उसके बाद उसने जो नाम लिया, वह उसका साधन था। अजामिलने जीवनमें पाप किये, परन्तु अपराध नहीं। इसका प्रमाण है कि जब उसने 'नारायण' नाम पुकारा, तो वहाँ पर विष्णुदूत आ गये। अपराध रहनेपर विष्णुदूत नहीं आयेंगे।

चतुर्थ अमृत वृष्टि — निष्ठिता भक्ति

अनिष्ठिता भजनक्रियाके पश्चात् अनर्थनिवृत्ति होती है और अनर्थनिवृत्तिके बाद ही निष्ठा उत्पन्न होती है। श्रीमद्भागवतके अनुसार—

शृण्वजो स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तः स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥ (भा. 1/2/17)

यहाँपर कहा गया है कि "भगवान् कृष्णके यशका श्रवण और कीर्त्तन दोनों पवित्र करनेवाले हैं", इसके द्वारा अनिष्ठिता भजन क्रियाको दर्शाया गया है, क्योंकि इसके बाद कहा है—"वे अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें प्रवेशकर अमङ्गलोंका नाश कर देते हैं।"—इस वाक्यके द्वारा अनर्थनिवृत्तिकी बात कही है। इसके अगले श्लोकमें बताया है—

नष्टप्रायेषु अभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥ (भा.1/2/16)

नित्य श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेसे हृदयकी अशुभ वासनाएँ (अनर्थ) प्रायः नष्ट हो जाते हैं तथा भगवान्के प्रति नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न होती है।

यहाँपर बताया है कि अनर्थ पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं हुए, फिर भी निष्ठा उत्पन्न हो गई। अनथ-निवृत्तिके क्रममें भी कुछ प्रबल अनर्थ, निष्ठाके स्तरपर भी रहते हैं, परन्तु ये अनर्थ अब भजनमें बाधक नहीं होते। निष्ठाके स्तरपर भी साधकके हृदयमें रज और तम गुण रहते हैं।

श्रील रूपगोस्वामीके अनुसार श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रिया, अनर्थ-निवृत्ति निष्ठा आदि क्रम बताया है। इससे भी स्पष्ट है कि अनिष्ठिता भजनक्रियाके बाद अनर्थ-निवृत्ति और उसके बाद निष्ठा उत्पन्न होती है।

निष्ठिता भजनक्रिया— भजनमें निश्चलता, स्थिरता प्राप्त होनेको निष्ठिता भजनक्रिया कहते हैं। लय, विक्षेप, अप्रतिपन्ति, कषाय, रसास्वाद आदि अनर्थोंके अभावको ही निष्ठाका लक्षण समझना चाहिये।

(1) **लय**— श्रवण, कीर्त्तन, स्मरणके समय निद्रा आना ही लय है। कीर्त्तनसे अधिक श्रवणमें और श्रवणसे अधिक स्मरणमें निद्रा आती है। लय तमोगुणसे उत्पन्न है और साधकको भजनके रस और माधुर्यका आस्वादन नहीं करने देती। तमोगुण आवरक होता है, अतः साधकको निद्रा द्वारा आवृत कर देता है। साधक निद्राके कारण भजनका बिल्कुल भी आस्वादन नहीं कर पाता।

(2) **विक्षेप**— श्रवण, कीर्त्तन, स्मरणके समय व्यवहारिक बातें करना विक्षेप कहलाता है। हाथमें माला लेकर जप करना और साथमें विषयोंकी बातें करना विक्षेप है। इसमें साधकका चित्त विक्षिप्त रहनेके कारण विषयोंमें ही लगा रहता है और नामको वह स्पर्श भी नहीं कर पाता। केवल संख्यापूर्ति ही लक्ष्य होता है। यह रजोगुणका कार्य है। रजोगुण रञ्जक होता है, अतः साधकके मनको पूर्ण रूपसे विषयोंमें रंग देता है और उसका ध्यान भजनमें नहीं रहता। भगवतकथाके आरम्भ और अन्तमें विषयोंकी बातें करना भी विक्षेप है।

(3) **अप्रतिपत्ति**— लय और विक्षेपके न होनेपर भी भजनमें जो असमर्थता देखी जाती है उसे अप्रतिपत्ति कहते हैं। इस अवस्थामें साधकके मनमें आलस्य और उत्साहकी कमी देखी जाती है। उत्साह ही श्रद्धाका जीवन है, अतः उत्साहके अभावमें भजन सम्भव नहीं है। यह तमोगुणसे उत्पन्न होता है।

(4) **कषाय**— भजनके समय हृदयमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि आना कषाय कहलाता है। किसीसे लड़ाई होनेपर नाम करते समय क्रोध, उत्सव आदिके समय स्वादिष्ट व्यञ्जनोंका मनसे आस्वादन करते हुए नाम करना, धन आदिके प्रति लोभ—ये सब पूर्व संस्कारोंके कारण अनर्थग्रस्त अवस्थामें चित्तमें

उदित होते हैं। यह रजोगुणका कार्य है।

(5) **रसास्वाद**— भजन करते समय मनसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका आस्वादन करना ही रसास्वाद कहलाता है। यह रजोगुणका कार्य है।

निष्ठा उत्पन्न होनेसे पूर्व हृदयमें काम, क्रोध, लोभ आदि रहनेपर चित्त उसी प्रकार अशान्त और अप्रसन्न रहता है, जैसे कि यदि किसी व्यक्तिके बाण लगा हो तो वह अप्रसन्न रहता है और भोजनका आस्वादन भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार साधक भी निष्ठासे पूर्व भजनका आस्वादन नहीं कर सकता। निष्ठाके स्तरमें ये अनर्थ भजनमें बाधा नहीं पहुँचाते। नैष्ठिकी भक्ति होनेपर चित्त काम लोभादि द्वारा अनाबिद्ध होकर शुद्ध सत्वमें स्थित होकर प्रसन्न हो जाता है।

यहाँ टेबल आयेगा.....
.....

(1) **साक्षात् भक्ति वर्तिनी निष्ठा**— भजनके अंगो (श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि भक्तिके 64 अंग)में निष्ठा या स्थिरता ही साक्षात् भक्तिवर्तिनी निष्ठा है। यह तीन प्रकारकी होती है—

कायिकी— कथा श्रवण, तुलसी चयन, माला बनाना, अर्चन, दण्डवत प्रणाम, परिक्रमा, मन्दिर मार्जन आदि भक्तिके अंगोंका पालन, जो शरीरसे किया जाता है, वह कायिकी है।

वाचिकी— जिह्वाके द्वारा भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका कीर्त्तन, स्तव, स्तुति, वन्दना आदि वाचिकी है।

मानसी— श्रीभगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाका मनसे स्मरण करना।

→श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार—"भजनमें विक्षेप रहित निरन्तरताको ही निष्ठा कहते हैं।"
→किसी-किसी साधकमें पहले कायिकी, फिर वाचिकी और अन्तमें मानसिक निष्ठा उत्पन्न होती है, परन्तु इस विषयमें कोई भी निश्चित क्रम नहीं है।

(2) **तदनुकूल वस्तुवर्तिनी निष्ठा**— अमानित्व, मानदत्व, मैत्री, दया, क्षमा, कृतज्ञता आदि भक्तिके अनुकूल गुणोंको ही तदनुकूल वस्तुवर्तिनी निष्ठा कहा है। अमानी, मानद गुणोंके द्वारा साधककी दीनता प्रकाशित होती है। दया, मैत्री और सौहार्द्रके द्वारा भक्ति निर्विघ्न और सुस्थिर होती है।

इन गुणोंमें कृतज्ञता गुण विशेष रूपसे भक्तिके अनुकूल है। अकृतज्ञ व्यक्तिके हृदयमें भक्तिदेवीका आविर्भाव नहीं होता। जो व्यक्ति जितने श्रेष्ठ हैं, उनके हृदयमें उतनी कृतज्ञता अधिक होती है। कृतज्ञताका गुण ही श्रेष्ठताकी कसौटी है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है— "नैष्ठिकी भक्तिके उदित होनेपर चित्त राजसिक, तामसिक भाव, काम, लोभादिसे अनाविद्ध होकर शुद्धसत्वमें स्थित होकर प्रसन्नता प्राप्त करता है। परन्तु कभी-कभी देखा जाता है कि किसी-किसी शम प्रकृतिवाले साधके हृदयमें भक्ति निष्ठाके अभावमें भी ये गुण देखे जाते हैं और दूसरी ओर निष्ठा उत्पन्न होनेपर भी किसी उदण्ड स्वाभाववाले साधकमें ये गुण दिखाई नहीं देते। अतः भक्तिमें निष्ठा उत्पन्न होनेपर ये गुण भी उत्पन्न होंगे, यह आवश्यक नहीं है। भजनके प्रति स्थिरता, निरन्तरता ही निष्ठाकी कसौटी है और यही निष्ठाका मुख्य लक्षण है। अमानी, मानद, दया, मैत्री, क्षमा आदि गुण बाह्य अथवा गौण लक्षण हैं।

पञ्चम अमृत वृष्टि (रुचि और उसके लक्षण)

रुचि— भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण, लीला आदिके अनुभवसे होनेवाले आस्वादनको रुचि कहते हैं।

श्रील जीवगोस्वामीके अनुसार— "श्रीकृष्णमें अभिलाषा या तृष्णाको रुचि कहते हैं।" यह अभिलाषा तीन प्रकारकी होती है:-

1) आनुकूल्य अभिलाषा
2) प्राप्त अभिलाषा
3) सौहार्द्र अभिलाषा

(1) **आनुकूल्य अभिलाषा**— भगवान्की अनुकूल भावमयी सेवा प्राप्त करनेकी इच्छाको ही आनुकूल्य अभिलाषा कहते हैं।

(2) **प्राप्त अभिलाषा**— भगवान्को प्राप्त करनेकी अभिलाषा।

(3) **सौहार्द्र अभिलाषा**— भगवान् एवं भक्तका परस्पर सौहार्द्र भाव।

रुचि होनेपर श्रवणसे अधिक कीर्त्तनमें और कीर्त्तनसे अधिक स्मरणमें आस्वादन होता है। रुचि भजन विषयक होती है।

प्रश्न— निष्ठा एवं रुचिमें क्या अन्तर है?
उत्तर- निष्ठाके स्तरमें श्रवण, कीर्त्तन आदिके अनुशीलनमें परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु रुचिके स्तरमें श्रवण, कीर्त्तनके निरन्तर अनुशीलनमें लेशमात्र भी परिश्रम नहीं होता। निष्ठामें भगवान्की कथामें लेशमात्र भी परिश्रम नहीं होता। निष्ठामें भगवान्की कथा आस्वादनीय नहीं होती, किन्तु रुचिमें कथाएँ सुस्वादु लगती हैं। इसीको माधुर्यानुभव कहा गया है। रुचिके स्तरमें पापका बीज नष्ट हो जाता है और भजनके माधुर्यका अनुभव होने लगता है। रुचि होनेपर भगवान्की लीला-कथाके श्रवण, कीर्त्तनसे तृप्ति नहीं होती।

प्रश्न—भजनमें रुचि कैसे उत्पन्न होती है?
उत्तर- जिस प्रकार पीलिया रोग होनेपर जिह्वाको मीठी मिश्री भी कड़वी लगती है, परन्तु वही मिश्री पीलिया रोगको दूर करनेके लिये महाऔषधि है। इसके नित्य सेवनसे पीलिया रोग दूर हो जाता है। मिश्री सेवनसे जितने परिमाणमें रोग दूर होता है, उतने परिमाणमें मिश्रीका मीठापन अनुभव होने लगता है। इसी प्रकार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदिसे दूषित हृदयमें भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदि अत्यन्त मधुर होनेपर भी आस्वादनीय नहीं लगते। परन्तु इनका निरन्तर श्रवण, कीर्त्तन ही अविद्या रूपी रोगको दूर करनेकी महाऔषधि है। भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाका श्रवण करते-करते जितने परिमाणमें अविद्या रोग दूर होगा, उतना ही चित्त शुद्ध होगा और उतने परिमाणमें श्रवण, कीर्त्तनादिका आस्वादन होगा और धीरे-धीरे इनमें साधककी रुचि उत्पन्न होने लगेगी।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवांजनसम्प्रयुक्तम्॥ (भा.11/14/26)

तात्पर्य—"हे उद्धव! जिस प्रकार आँखोंमें अञ्जन लगानेसे नेत्रोंका दोष मिट जाता है और सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है, उसी प्रकार मेरी परम पावन लीलाओंके श्रवण-कीर्त्तनसे मनका मैल जैसे-जैसे धुलता है, वैसे-वैसे साधकको सूक्ष्म वस्तुके वास्तविक तत्त्वका दर्शन होने लगता है।"

रुचि दो प्रकार की है—
1) वस्तु वैशिष्ट्य-अपेक्षिणी
2) वस्तु वैशिष्ट्य-अनपेक्षिणी

(1) **वस्तु वैशिष्ट्य-अपेक्षिणी रुचि**— इसमें भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलादिके वैशिष्ट्य, जैसे कीर्त्तनमें सुर-ताल, सुन्दर विग्रह-शृङ्गार, सुस्वादु प्रसाद आदि वस्तुओंकी विशेषताकी अपेक्षा रहती है। यह रुचि अन्तःकरणके दोषोंका आभासमात्र है, क्योंकि जिनकी भक्तिके अंगोंमें तीव्र रुचि उत्पन्न हो गई है, वे स्वर, ताल, लय आदिकी कोई अपेक्षा नहीं रखते, जैसेकि एक भूखा व्यक्ति जो कुछ मिल जाये, उसे खा लेता है, यह नहीं पूछता कि क्या-क्या बना है? कैसा बना है?

(2) **वस्तु वैशिष्ट्य अनपेक्षिणी**— जो रुचि वस्तुके वैशिष्ट्यकी अपेक्षा नहीं रखती, अर्थात् सुन्दर शृङ्गार, कीर्त्तनमें अच्छे सुर, ताल आदिकी अपेक्षा नहीं रखती। भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिकी विशेषतामें यह दृढ़, तीव्र एवं उत्साहमयी होती है। इस रुचिके उत्पन्न होनेपर अन्तःकरणके समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—देखा जाता है कि गुरुवर्ग भी कीर्त्तनमें सुर-ताल ठीक न होनेपर डाँट देते हैं, इसका क्या सामञ्जस्य है?
उत्तर- गुरुवर्ग प्रत्येक वस्तुको भगवान्की सेवाका उपकरण समझते हैं, अतः भगवान्को समर्पितकी जानेवाली प्रत्येक वस्तु सर्वश्रेष्ठ होनी चाहिये, इसी कारणसे सेवामें कुछ भी गलती होनेपर वे तुरन्त डाँट देते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें वस्तुके वैशिष्ट्यकी अपेक्षा है। कभी-कभी सांसारिक लोगोंको भक्तिमें लानेके लिये अच्छा कीर्त्तन, अच्छा शृङ्गार, अच्छा प्रसाद आदिका अनुष्ठान किया जाता है। इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि उन्हें प्रतिष्ठाकी कामना है।

प्रश्न— जात रुचि भक्तका आचरण कैसा होता है?
उत्तर- जिसके हृदयमें रुचि उत्पन्न हो गई है, उसे जातरुचि भक्त कहते हैं। जिस परिमाणमें साधकको भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाकी अनुभूति होती है, उसी मात्रामें सांसारिक विषयोंसे विरक्ति होती है। साधक स्वयंको अयोग्य और अधम समझकर अपने मनको धिक्कारते हुए कहता है—"मैं अत्यन्त नीच और घृणित हूँ। मैंने श्रीगुरुदेवकी कृपासे भक्तिको ऐसे प्राप्त किया, जैसे अपने वस्त्रकी गाँठमें महारत्न बँधा हो, परन्तु उसका तनिक भी आदर न करके धन-प्राप्ति, ग्राम्यवार्ता और विषय-सुखोंमें ही जीवन नष्ट कर दिया। मैं जीवनमें भजन नहीं कर सका। भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाके श्रवण, कीर्त्तनादिमे आलस्य करने लगा। हाय-हाय! भगवत् कथा सुननेके समय मुझे नीन्द आती है और विषय-वार्ताके समय नीन्द खुल जाती है। मैंने साधु समाजको कितनी बार कलंकित किया है। न जाने मुझे अपने दुष्कर्मोंको भोगनेके लिये कितने समय तक नरक भोग करना पड़ेगा।

इस प्रकार जातरुचि भक्त संसारसे विरक्त होकर साधुसमाजमें वास करता है। श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन आदि प्रत्येक भक्ति अंग उसको परम आस्वादनीय लगता है। अनभिज्ञ लोग उसे पागल समझते हैं। यही रुचि क्रमशः प्रगाढ़ होनेपर आसक्ति, भाव और प्रेमका रूप धारण कर लेती है।

षष्ठम् अमृतवृष्टि— आसक्ति

प्रश्न—रुचि और आसक्तिमें क्या अन्तर है?

उत्तर–

(1) रुचिके स्तरमें भक्तको भजनके अंगों (श्रवण, कीर्त्तन आदि)में अधिक रुचि होती है अर्थात् रुचि भजन विषयक है। आसक्तिके स्तरमें अपने अभीष्ट श्रीभगवान्में आसक्ति होती है, अर्थात् आसक्ति भजनीय (भगवान्) विषयक है। रुचिमें भी भगवान्के प्रति आसक्ति रहती है, परन्तु भजनमें रुचिकी प्रधानता रहती है। इसी प्रकार आसक्तिके स्तरमें भजनमें रुचि रहती है, परन्तु भगवान्में आसक्तिकी प्रधानता रहती है।

(2) रुचि ही परिपक्व अवस्थामें आसक्ति कहलाती है अर्थात् रुचि अपरिपक्व और आसक्ति परिपक्व अवस्था है। आसक्ति जीवके चित्तरूपी दर्पणको इस प्रकार परिमार्जित करती है कि भगवान् उसमें प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दिखाई देने लगते हैं।

(3) निष्ठाके स्तरमें भक्त यह नहीं जान पाता कि कब उसका मन भगवान्की लीला–कथाओंसे निकलकर विषय–वार्तामें चला गया। रुचिके स्तरमें बुद्धिपूर्वक मनको विषयोंसे हटाकर भगवान्के रूप, गुणादिके चिन्तनमें लगाना पड़ता है, किन्तु आसक्तिमें चेष्टा किये बिना ही मन विषयोंसे हटकर स्वतः भगवान्के रूप, गुणादिके चिन्तनमें लग जाता है। निष्ठाके स्तरमें विषयोंसे मन हटाकर भगवान्में लगानेके लिये परिश्रम करना पड़ता है, रुचिमें परिश्रम नहीं करना पड़ता, परन्तु बुद्धिपूर्वक मनको विषयोंसे हटाकर भगवान्में लगाना पड़ता है। आसक्तिके स्तरमें बिना चेष्टाके स्वाभाविक रूपसे मन विषयोंसे हटकर भगवान्में लग जाता है।

(4) रुचिके स्तरमें आनुकूल्य–अभिलाष, प्राप्त–अभिलाष, सौहार्द्र–अभिलाष बुद्धिपूर्वक होती है, किन्तु आसक्तिमें स्वाभाविक होती है।

आसक्ति भक्तिकल्पलतामें स्तवक (कोपल)के समान है, जो यह सूचित करता है कि शीघ्र ही साधककी भक्ति कल्पलतामें भावरूपी पुष्प और प्रेमरूपी फल उदित होनेवाले हैं, अर्थात् आसक्ति ही क्रमशः भाव और फिर प्रेममें बदल जाती है।

प्रश्न— आसक्तियुक्त भक्तके क्या लक्षण हैं?

1) आसक्ति उत्पन्न होनेपर साधक अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये अत्यधिक व्यग्र हो जाता है। "कहाँ जाऊँ, क्या करुँ, कैसे कृष्णको पाऊँ?" इस प्रकार उसकी अवस्था हो जाती है। वह एक स्थानपर स्थिर होकर नहीं रह पाता, घरके बाहर इधर–उधर भ्रमण करने लगता है। वैष्णव साधुके दर्शनकर अपनेको कृतार्थ समझता है और श्रद्धा तथा प्रीतिपूर्वक उनसे भजनके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न करता है। उनके कृपापूर्ण उपदेशसे अपनेको कृतार्थ समझकर उनकी सेवा करता है।

2) कभी मृगको देखकर सोचता है कि यदि मुझपर कृष्णकी कृपा है, तो यह मेरी ओर आयेगा, अन्यथा मुझसे दूर चला जायेगा। इस प्रकार पशु–पक्षियोंकी स्वाभाविक चेष्टाको भगवान्का अनुग्रह या निग्रह समझता है।

3) कभी छोटे ब्राह्मण बालकोंको देखकर उसे चतुःसनकी स्फूर्ति होती है और उनसे प्रश्न करता है—"मुझे कृष्णप्रेमकी प्राप्ति होगी या नहीं?" यदि कोई बालक कहता है—"नहीं", तो यह सुनकर दुःखपूर्वक रोने लगता है। यदि उसे रोते देखकर कोई "हाँ" कह देता है, तो आनन्दसे नाचने लगता है।

4) वह स्नान, भोजन आदि दैहिक क्रियाओंको भूल जाता है, कभी सोता है, कभी उठकर खड़ा हो जाता है, घरवालोंके सामने अपने भावोंको छिपानेका प्रयास करता है।

प्रश्न— आसक्ति युक्त भक्तके लक्षण देखकर उसके विषयमें अन्य लोग क्या सोचते हैं?
उत्तर- आसक्तियुक्त भक्तके विषयमें उसके घरवाले सोचते हैं कि इसकी बुद्धि खराब हो गई है। पड़ोसी उसे ज्ञान-बुद्धिहीन आलसी समझते हैं। कोई उसे पागल समझता है। तर्कशील मीमांसक उसे मूर्ख समझते हैं। मायावादी उसे भ्रान्त और कर्मी उसे भ्रष्ट मानते हैं। अपराधी व्यक्ति उसे दाम्भिक और कपटी समझते हैं। केवल भगवद्भक्त ही ऐसे आसक्तिवान भक्तको पहचान लेते हैं, वे समझ जाते हैं कि इस भाग्यवानको महान सार वस्तु 'भक्ति'की प्राप्ति हो गई है।

सप्तम् अमृतवृष्टि—भाव

शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृष्टकृदसौ भाव उच्यते॥ (भ.र.सि. 1/3/1)

भाव— साधन भक्तिमें रुचि तथा भगवत् प्राप्तिकी अनुकूल अभिलाषा और सौहार्द्र आज्ञाषा द्वारा चित्त आर्द्र (द्रवित) होनेपर उसे भाव भक्ति कहते हैं। यह भावभक्ति 'शुद्धसत्वविशेष' स्वरूप है और उदित होते हुए सूर्यकी प्रथम किरणके समान है।

भावका स्वरूप लक्षण— शुद्धसत्व विशेषात्मा
भावका तटस्थ लक्षण— प्रेमरूपी सूर्यकी प्रथम किरण, रुचि प्रगाढ़ होनेपर चित्त द्रवित होना।

यदि प्रेम सूर्य है, तो भाव किरण है। प्रेम लता है, तो भाव अंकुर है। प्रेम फल है, तो भाव भक्तिकल्पलताके पुष्पके समान है। यह भाव ही प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय आदि सभी प्रकारके स्थायी भावोंके अंकुर स्वरूप है।

शुद्ध सत्व— भगवान्की स्वरूप शक्तिकी स्वप्रकाश सम्वित् वृत्तिको 'शुद्ध सत्व' कहते हैं। इसके (शुद्ध सत्वके) द्वारा ही भगवान् अपने धाम, परिकर एवं स्वयंको प्रकाशित करते हैं।

शुद्धसत्व विशेष— ह्लादिनीका सार जब सम्वित्के सारके साथ मिल जाता है, तब उसे 'शुद्धसत्व विशेष' कहते हैं। शुद्धसत्व विशेषके अन्दर 'महाभाव' अवस्था भी रहती है।

शुद्धसत्व विशेषात्मा— भगवान्के नित्य परिकरोंके हृदयमें स्थित नित्यसिद्ध भावको 'शुद्धसत्व विशेषात्मा' कहते हैं।

कृष्णानुशीलन जिस अवस्थामें विशुद्धसत्व स्वरूप हो जाता है और रुचिके द्वारा चित्तको द्रवित कर देता है, उस अवस्थाको भाव कहते हैं। भाव नित्यसिद्ध एवं स्वप्रकाश वस्तु है। साधन भक्ति करनेसे यह प्रकाशित होगा, यह आवश्यक नहीं है। जब तक साधनभक्तिके अंगोंमें आसक्ति नहीं होती, तब तक भाव प्रकाशित नहीं होता। भावको रति भी कहते हैं। रति स्वयं आस्वाद्य है तथा कृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका आस्वादन करनेका हेतु भी है। अर्थात् साधक स्वयं भावका आस्वादन करता है और इसी भावके द्वारा प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय आदि अवस्थाओंमें कृष्णका आस्वादन करता है।

भाव(रति)का वैशिष्ट्य— भाव भक्तिके द्वारा हृदयके समस्त अज्ञान और अविद्या सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाते हैं। भाव रूपी पुष्पकी सुगन्धसे स्वयं आकृष्ट होकर भक्तके हृदयमें आविर्भूत हो जाते हैं और इस पुष्पके मकरन्दको पान करके मत्त हो जाते हैं। भावके द्वारा भक्तकी चित्तवृत्ति इस प्रकार द्रवित हो जाती है कि वह भगवान्के समस्त अंगोंको स्नेहसे सिञ्चित कर देती है। भाव चित्-तत्त्व है, यह जड़ अन्तर्गत नहीं है। बद्धजीवोंकी जड़ विषयोंमें रति इस चित्-भावकी विकृति है।

भावभक्तिके गुण—
1) मोक्षलघुताकृत
2) सुदुर्लभ

जीवके अन्दर भी सत्, चित्, आनन्द गुण है, परन्तु अणुमात्रामें है, अतः भगवान् इस अणु आनन्दके वशीभूत नहीं होते। भावभक्ति आनेपर स्वरूप शक्तिकी वृत्ति (सत्, चित्, आनन्द) प्रकाशित होती है, तभी भगवान् उसके वशीभूत होते हैं।

प्रश्न—भाव भक्तके बाह्य लक्षण क्या हैं?
उत्तर- भाव भक्त श्रीकृष्णके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शका साक्षात् अनुभव करता है, जिससे उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती है। कभी कृष्णके करकमलोंका कोमल और मधुर स्पर्श पाकर वह रोमाञ्चित हो जाता है। वह कृष्णकी स्फूर्ति पाकर अपार आनन्दका अनुभव करता है। कभी वह माधुर्य-आस्वादनसे मत्त हो जाता है और कभी कृष्णकी स्फूर्ति न होनेसे दुःखी हो जाता है। उसके अंगोंमें 33 सञ्चारी भाव दिखाई देते हैं। इस रतिकी अवस्थामें ही भक्त साधक कहलाता है।

उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः परिकीर्तिताः॥

जिन भक्तोंमें कृष्ण रतिका आविर्भाव तो हुआ है, परन्तु सम्यक् रूपसे उनके विघ्न अभी दूर नहीं हुए हैं, उन्हें साधक कहते हैं।

रतिकी अवस्थामें हरिकथाका आस्वादन अमृतके समान होता है और जागतिक कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। साधकको जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थामें भी भगवान्की स्मृति बनी रहती है। इसे ध्रुवानुस्मृति कहते हैं। ध्रुवानुस्मृति निर्गुण भक्तिका लक्षण है।

जाग्रत अवस्था— स्थूल इन्द्रियाँ एवं सूक्ष्म शरीर सभी सचेतन और सक्रिय रहते हैं।

स्वप्न अवस्था— स्थूल इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, परन्तु सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त) जाग्रत अवस्थामें जो देखता है, निद्राकालमें उन्हीं सब चिन्ताओंका छायाचित्र स्वप्नके रूपमें देखता है।

सुषुप्ति अवस्था— इस अवस्थामें सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों ही निष्क्रिय रहते हैं। अतएव इस समय कोई भी चिन्ता नहीं रहती।

<u>भाव अवस्थामें जड़ अभिमान ('मैं' और 'मेरा') नष्ट होकर सिद्ध स्वरूपकी स्फूर्ति</u>—

भाव अवस्थामें जीवकी संसार दशा (पाञ्चभौतिक शरीरको 'मैं' और स्त्री-पुत्र आदिको 'मेरा' समझना) नष्ट हो जाती है तथा उसका शुद्ध स्वरूप (नित्य कृष्णदास) जागृत हो जाता है। इस स्थितिमें साधक देहात्मबुद्धिसे रहित होकर साक्षात् कृष्ण सेवाकी प्राप्तिके लिये 'सिद्धदेह' प्राप्त कर लेता है और 'सिद्ध देह'में ही उसका 'अहं' भाव दृढ़ हो जाता है। प्राकृत देहसे कभी भी भगवान्की सेवा सम्भव नहीं है, इसलिये 'सिद्धदेह' चिन्मय होती है, इसे 'अन्तश्चिन्तित देह' भी कहते हैं।

<u>भावभक्तिके लक्षण</u>—

मुख्य लक्षण (क्षान्ति, अव्यर्थकालत्वं आदि 9 लक्षण)

गौण लक्षण (रोमाञ्च, कम्प, अश्रु आदि 8 लक्षण)

<u>मुख्य लक्षण</u>—

क्षान्तिरव्यर्थ कालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरजने॥

तात्पर्य— जिस साधकके हृदयमें प्रेमका अंकुर अर्थात् भाव उत्पन्न हो जाता है, उसमें क्षान्ति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, निरभिमानता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नामगानमें सदा रुचि, भगवान्के गुणानुवादमें आसक्ति और भगवान्के धाममें वासकी इच्छा—ये सभी लक्षण प्रकाशित होते हैं।

क्षान्ति— क्षोभका कारण उत्पन्न होनेपर भी चित्तका क्षुब्ध न होना ही क्षान्ति है। दूसरोंके दोषोंको क्षमा कर देना तथा स्वयं सहन करना ही क्षान्ति है।

अव्यर्थकालत्व— सांसारिक विषयोंमें लिप्त न होकर केवल भगवद्भजनमें समय व्यतीत करना ही अव्यर्थकालत्व है।

विरक्ति— जड़ रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि विष्ज्ञयोंके प्रति स्वाभाविक अरोचकता ही विरक्ति है।

मानशून्यता— अपना उत्कर्ष रहनेपर भी अभिमान न होना ही मानशून्यता है।

आशाबन्ध— भगवान् अवश्य प्राप्त होंगे—ऐसी दृढ़ आशाका नाम आशाबन्ध है।

समुत्कण्ठा— अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिये सदैव उत्साहित होकर तथा लोभयुक्त होकर प्रयास करना समुत्कण्ठा है।

नामगानमें सदा रुचि— निरन्तर नाम-संकीर्त्तनके लिये 'प्रेममयी लालसा' ही नामगानमें सदा रुचि है।

तद्गुणाख्यानमें आसक्ति— भगवान्के माधुर्यमय गुण, लीला आदिके वर्णनमें सदा आसक्ति।

तद्वसतिस्थलमें प्रीति— भगवान्की लीलास्थली वृन्दावन आदि धामोंमें निवास करनेकी तीव्र इच्छा।

भावभक्तिके गौण लक्षण— रोमाञ्च, कम्प, अश्रु, पुलक, वैवर्ण्य, स्वरभंग, स्तम्भन, मूर्छा।

रत्याभास— अन्तःकरणकी स्निग्धता रतिका मूल लक्षण है। परन्तु चित्त द्रवित न होनेपर भी रोमाञ्च, कम्प, अश्रु आदि देखे जाते हैं, उसे रत्याभास कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है।

रत्याभास
1) प्रतिबिम्ब रत्याभास 2) छाया रत्याभास

1) **प्रतिबिम्ब रत्याभास**— भुक्ति-मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियोंमें अश्रु, पुलकादि दिखाई देनेपर भी उसे 'प्रतिबिम्ब रत्याभास' कहते हैं।

2) **छाया रत्याभास**— सरल हृदय व्यक्तियोंमें भगवान्की कथा सुनकर जो अश्रु, पुलक आदि देखे जाते हैं, उसे छाया रत्याभास कहते हैं।

पिच्छल चित्तवाले व्यक्तियोंमें अथवा अभ्यासके द्वारा जो रोमाञ्च, कम्प, अश्रु आदि देखे जाते हैं, वह रत्याभास भी नहीं है।

भाव-
1) वैधी भक्तिसे उदित भाव 2) राग भक्तिसे उदित भाव

(1) **वैधी भक्तिसे उत्पन्न भाव**— शास्त्रके भय एवं भगवान्के प्रति ऐश्वर्य बुद्धिसे उदित होता है, अतः यह प्रगाढ़ नहीं होता। ऐसे भक्तोंकी ममता (भगवान्के प्रति) ऐश्वर्य ज्ञानके द्वारा विद्ध होती है। इसमें आस्वादन भी निर्बाध रूपसे नहीं हो पाता, क्योंकि भगवान्के प्रति गौरव बुद्धि रहती है तथा संकोच बना रहता है। इसी कारण भगवान् ऐसी भक्तिसे कभी वशीभूत नहीं होते। वैधी भक्तिके चित्तमें स्वसुखकी वासनाकी प्रधानता और अपने कष्टोंसे निवृत्तिकी वासना प्रधान होती है।

(2) **रागभक्तिसे उदित भाव**— यह जाति और परिमाणमें वैधी भक्तिसे उत्पन्न भावकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसमें कृष्णके प्रति सम्भ्रम-गौरवरहित पुत्र, सखा, प्रेमी आदि बन्धुवत् भाव होनेके कारण माधुर्य आस्वादन निर्बाध रूपमें होता है। रागमार्गीय भक्तकी चित्त वासना अपने सुखकी गन्धसे रहित होती है, वह केवल कृष्ण-सुखके लिये चेष्टा करता है।

प्रश्न— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुररसमें क्रमशः अधिक आस्वादन होता है, तब सभीकी मधुररसमें रति क्यों नहीं होती?
उत्तर- किसी भक्तकी रुचि उसकी प्राचीन वासना या संस्कारके अनुसार ही होती है। उन्हीं संस्कारोंके अनुसार और महत्पुरुषकी विशेष कृपासे किसी एक भावमें ही साधककी रुचि होती है। जिस प्रकारसे अलग-अलग व्यक्तियोंकी रुचि मधुर, अम्ल, कटफ आदि छः रसोंमेंसे किसी एक रसमें ही होती है।

प्रश्न—कौनसा रस श्रेष्ठ है और कौनसा निकृष्ट—इसका विचार कौन कर सकता है?
उत्तर- जिसमें किसी रसके प्रति वासना नहीं है अथवा जिसमें अनेक रसोंके प्रति वासना है, वे बहुरस आस्वादनके प्रति विचार नहीं कर सकते। जो एक रसमें मग्न हैं, वे ही विचार करनेमें सक्षम हैं, क्योंकि वे ही एक रसकी अन्य रसोंके साथ तुलना कर सकते हैं। उदाहरण- उद्धव सख्यमिश्रित दास्यरसके भक्त हैं, परन्तु जब उन्होंने व्रजदेवियोंके मधुर भावका दर्शन किया, तो मधुररसकी श्रेष्ठता देखकर उन्होंने गोपियोंकी चरणरेणु प्राप्त करनेके लिये वृन्दावनमें तृण और गुल्मादिके रूपमें जन्म लेनेकी प्रार्थना की।

कृष्ण कृपा
1) वाचिक 2) दार्शिक (दर्शन देकर) 3) हार्दिक

(1) वाचिक कृपा— जहाँ वाणीके द्वारा कृपाकी जाती है। उदाहरण- नारद पञ्चरात्रमें भगवान्ने कहा—"हे विप्रवर! तुम्हें मेरी सर्वश्रेष्ठ अव्यभिचारिणी भक्ति प्राप्त हो।"

(2) दर्शन देकर कृपा— स्कन्दपुराणके अनुसार— "कुरुजांगल प्रदेशके लोग कृष्णका दर्शन करते ही आर्द्रचित्त हो उठे और कृष्णकी ओरसे नेत्रोंको न हटा सके।"

(3) हार्दिक कृपा— जो हृदयसे उदित होती है। शुक-संहिताके अनुसार—"हे व्यासजी! आपके यहाँ परम भगवद्भक्त पुत्र श्रीशुकदेव उत्पन्न हुआ है, जिसको बिना साधनोंके उदित होनेवाली विष्णु-भक्ति प्राप्त हुई है।

प्रश्न— भावभक्तको कृष्ण साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है, परन्तु देखा जाता है कि कभी-कभी अनर्थग्रस्त साधकको भी स्वप्नमें अथवा अन्य किसी माध्यमसे भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है। ऐसा कैसे सम्भव है?
उत्तर- पूर्व जन्मोंकी सुकृतिके कारण अथवा भगवान्की अहैतुकी कृपासे अनर्थग्रस्त अवस्थामें भी साधक भगवत्कृपाका अनुभव कर सकता है। साधककी भक्तिमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भगवान् कभी-कभी कृपा करते हैं, परन्तु इसके लिये आवश्यक नहीं है कि उसकी रति उत्पन्न हो चुकी है। भगवान्की अहैतुकी कृपा ही इसका कारण है।